



श्रीः ।

# आत्म-तत्त्व-प्रकाश

मूल लेखक—

प्राध्याप्य डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण  
एम. ए. पी. एच. डी. प्रिंसिपल  
संस्कृत कालेज कलकत्ता.

(गमापा से हिन्दोमापामें, प्रत्येकार की आगानुसार )

किसरौल, मुरादाबाद निवासी

ज्वालादत्त शर्मा

द्वारा अनुवादित

प्रकाशक—

गणेशीलाल लक्ष्मीनारायण

लक्ष्मीनारायण यन्त्रालय

मुरादाबाद.

प्रथमवार, सम्बत् १९७१

57

Printed by ११

Lakshmi Narayan



TO

BABU HARI DASS DE

*Who Takes special interest in*

**the ancient philosophy of India.**



श्रीः ।

## अनुवादककी भूमिका ।

---

भारतवर्ष कभी उन्नत था और इतना उन्नत था कि अन्यदेशके वासी यहां आकर शिक्षा प्राप्त करते थे और इस देशको पूज्य समझते थे । किसी २ के मतमें यहां रेल तार व्योमघान और विजली आदि के आविष्कार पूर्व समयमें हो चुके थे और बाहर के लोग शिल्प शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त भी यहां आते थे, परन्तु इसके विरुद्ध जितनी युक्तियां हैं उतनी इस दावे के समर्थन में नहीं । इस प्रकार के विचार प्रायः उन्हीं के हैं जो रेल तार को देख चकित होगए हैं और अपने यहां भी इन आविष्कारोंको बतलाकर अपने पुरुषाओं की कीर्त्ति स्थापन करने की इच्छा रखते हैं । जिस विषयमें किसीका मत भेद नहीं वह भारतवर्ष की आध्यात्मिक उन्नति है । भारतवर्ष के दार्शनिकों ने आत्मा,

प्रकृति और ईश्वरके विषय में जितनी खोज की और उनके विषयमें जितनी ज्ञातव्य बातें प्रकाशित कीं संसार की किसी जाति ने नहीं कीं। हमारा अपना विश्वास है—यह बात नहीं कि इस विचार के प्रकटकर्त्ता हमही हैं, या ऐसे विचार और किसी के नहीं हैं—कि इसी आध्यात्मिक उन्नति के कारण भारतवर्ष पूर्व-काल में प्रसिद्ध था और इसी के विषयमें उस ने अपनी पारदर्शिता दिखाकर अपने को अन्यदेशों की दृष्टिमें पूज्य बनाया था। आध्यात्मिक विषयों में लगे रहने के कारण यहां के चिन्ताशील और प्रतिभाशाली मनीषी, भौतिक जगत्की ओर दृक्पात भी न करसके। उनके मतमें—और यह मत है भी विल्कुल ठीक—आत्मा के जान लेने से किसी अन्यपदार्थ के जानने की आवश्यकता नहीं रहती। मनुष्य संसारमें जो कुछ करता है सुखप्राप्ति के निमित्त करता है। सांसारिक विषयों में उसको सुख मिलता जरूर है। परन्तु क्षणभङ्गुर और दुःखमिश्रित, किन्तु जिस सुख में दुःख

नहीं जिस आनन्द में विषाद नहीं जिसका  
 आरम्भ नहीं और इसीलिए अन्त भी नहीं,  
 ऐसा सुख आत्मा को छोड़कर और कहीं नहीं  
 मिलता । ऐसा सुख जिसको मिल गया हो वह  
 क्षणभङ्गुर सुख के लिए क्यों चेष्टा करेगा ?  
 लेखक के मतमें इसी कारण से यहां भौतिक  
 उन्नति नहीं हुई क्योंकि वैसी उन्नति हमारे  
 मनीषियों की दृष्टिमें अवनति थी । किन्तु आज  
 कल वह बात नहीं । हम लोग वासनाओं के  
 दास हैं सांसारिक सुखों के लिए सब कुछ  
 देने को तय्यार हैं । ऐसे विषयलोलुप पुरुष  
 दि आत्मज्ञान का वहाना करके कर्त्तव्य कर्म  
 सांसारिक उन्नति नहीं करते तब वे आलस्य  
 से हर्गिज नहीं बच सकते और संसार  
 । दिना पीचे और पीसे कभी नहीं छोड़  
 जाता । मनुष्यका लक्ष्यस्थिर और साधन लक्ष्य-  
 नुसार होने चाहिए । हमारे ऋषियों का लक्ष्य  
 आत्मज्ञान था और वे उस ज्ञानकी खातिर मन  
 का निरोध करते थे, वासनाओं का नाश करते  
 थे और इसीलिए सांसारिक बखेड़ों से दूर



रहकर अपने लक्ष्य को सिद्ध करते थे ।  
 क्या उनको कोई आलसी कह सकता है ?  
 सैकड़ों वर्ष समाधि लगाने वाले, शेरसे भी  
 अधिक बलवान् मन का निरोध करने वाले  
 आत्मस्थ भी यदि आलसी हैं तब संसार का  
 कौन सा फल है जो मनुष्यजाति का सुख इस  
 कलङ्क से साफ़ करदे ? हां, आलसी हैं हम,  
 जो सांसारिक सुखों की इच्छा रखते हुए  
 विषय भोगणी लालसा में सब कुछ गँवाते हुए  
 काम करने के समय वेदान्ती बन बैठते हैं ।  
 लेखक ने एकवार एक पण्डित नामधारी धूर्त्त  
 का व्याख्यान सुना । विषय था त्याग । उसने  
 त्यागको सिद्ध करते हुए यहाँ तक कह डाला  
 कि जिसमें त्याग नहीं वह मनुष्य ही नहीं ।  
 माता, पिता, स्त्री, पुत्र, परिवार, धन और मान  
 सबको छोड़ कर एकान्तमें रहकर ब्रह्मचिन्तन  
 करना चाहिए । गीता और पञ्चदशीके श्लोक  
 वह गला फाड़ २ कर सुनाए गए कि बीसियों  
 दूकानदार त्याग २ पुकारने लगे । सभासभास  
 हुई । अब आया पण्डितजीकी भेंटका समय ।

उससमय उनकी भेंट की जाने लगी । अहा वह समय देखने लायक था । भेंटमें ५) की कमी थी, इसपर त्याग के विषयपर व्याख्यान देने वाले की जो दशाहुई वह देखने ही योग्य थी वर्णन करने योग्य नहीं । आखिर २) रु० और ले मरे । जिनकी ऐसी अवस्था है वे वास्तव में सामाजिक दण्डके पात्र हैं । किन्तु जिनका लक्ष्य स्थिर है और साधनभी तदनुकूल हैं वे पूज्य हैं । चाहें वे सांसारिक उन्नतियों और सुखोंका द्वार उन्मुक्त करने वाले पण्डित प्रवर डार्विन आदि मनीषी हों, या आत्मज्ञान की आग्नि में शरीर तक भस्म करने वाले हमारे गौरवस्वरूप कणाद आदि ऋषीश्वर ।

आत्माका विषय सूक्ष्मतर होने के कारण साधारण हिन्दुओं में उसके विषय में विश्वास तो है पर उसका यथार्थज्ञान नहीं । विश्वाससे कामनहीं चलता । प्रतिपक्षीकी ज़रासी ठोकर मार देने से वह उड़जाता है । किन्तु यथार्थज्ञान का नष्ट करना साधारण बात नहीं । यथार्थज्ञान के न होने का एकमात्र कारण मातृभाषा

में इस तरह के ग्रन्थों का अभाव ही है। भारत वर्ष जिस ज्ञान के लिए प्रसिद्ध है उस ज्ञान की प्रदर्शिका इस पुस्तिका को ( अनुवादस्वरूप में ) इसी लिए प्रकाशित करते हैं कि हम लोग कमसे कम यह तो समझ सकें कि वह कौन सा सुख था जिसकी खातिर हमारे मनीषियों ने अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया और वह कौन सा ज्ञान था जिसके कारण आज भी हमारा भारतवर्ष दूसरोंकी दृष्टिमें सस्मानकी चीज है ।

शान्तिनिकेतन,  
नैनीताल । }  
२१ । ६ । १४६०

विनीत—  
ज्वालादत्त शर्मा ।

## प्रथमवार का विज्ञापन ।

जिस समय हम पूज्यपाद गुरु महामहोपाध्याय श्रीयुक्त सद्देशचन्द्र न्यायरत्न सी.आई.ई. के पास संस्कृतकालिज में दर्शनशास्त्र पढ़ा करते थे उस समयसे हमारे मनमें यह इच्छा थी कि अन्यदर्शनों की तुलना करके न्यायदर्शन पर एक युक्तिपूर्ण प्रबन्ध लिखें । बादको हमने नव्यभारत और जन्मभूमि आदि मासिकपत्रों में दर्शनशास्त्रके सम्बन्ध में अनेक लेख लिखे । इन प्रबन्धों के छपनेपर नवद्वीपके पण्डित श्री-युक्त यदुनाथ सार्वभौम, महामहोपाध्याय श्रीयुक्त राजकृष्ण तर्कपञ्चानन, श्रीयुक्त जयनारायण तर्करत्न, श्रीयुक्त सर्वेश्वर सार्वभौम, श्रीयुक्त अजितनाथ न्यायरत्न, श्रीयुक्त शिवनाथ वाचस्पति एवं कृष्णनगरके भूतपूर्व डिप्टी-मैजिस्ट्रेट कविवर श्रीयुक्त नवीनचन्द्रदास एम. ए. बि. एल. और कृष्णनगरनिवासी हमारे सहपाठी भाई श्रीयुक्त जगदानन्दराय आदि महोदयोंने इन सब प्रबन्धोंको पढ़कर इनको पुस्तकाकार छपाने के लिए हमको उत्साहित

किया । उनके आदेश को मानकर उन प्रबन्धों को कुछ घटा बढ़ाकर “आत्मतत्त्वप्रकाश” के नामसे प्रचारित करते हैं । बंगालगवर्नमेण्ट के पुस्तकालयाध्यक्ष, वङ्गीयसाहित्यपरिषद् के भूत-पूर्व सम्पादक पण्डितवर राजेन्द्रचन्द्रशास्त्री, एम. ए. और ढाकाके सुशिक्षित भूस्थधिकारी विश्वविद्यालय के अन्यतम सदस्य श्रीयुक्त राय यतीन्द्र चौधरी एम.ए.वि.एल. महोदयने हिन्दूदर्शन के साथ २ पाश्चात्यदार्शनिकों के मत को उद्धृत करने का उपदेश दिया था । उनके समीचीन परामर्श को मैं न मान सका उसका कारण यही था कि इस छोटीसी पुस्तिकामें न्याय के सिवा अन्य कोई मत उद्धृत नहीं हो सकता था ।

दिन २ उन्नति शिखरपर चढ़नेवाली बंग-आषामें अनेक उपन्यास नाटक निकल रहे हैं सही, किन्तु अभीतक दार्शनिकग्रन्थों का अभाव सा हो है । प्रथम तो जनसाधारणमें दर्शनशास्त्र की चर्चा बहुतकम है और दूसरे कुछ पारि-भाषिक शब्द ऐसे हैं जिनका अभीतक बंगीय कोशमें संग्रह नहीं हुआ । इसके कारण ग्रन्थ

लेखकको जो कठिनाई पड़ती है उसके कहने की आवश्यकता नहीं । इस पुस्तकको सब समझ सकें-इसके लिए हमने कोई चेष्टा छोड़ी नहीं । यदि युक्तिप्रिय लोग इसको पढ़कर कुछ प्रसन्न होंगे तब हमारा श्रम सफल हुआ समझिए ।

न्यायदर्शनसम्बन्धी जिन पुस्तकोंके सहारे यह पुस्तक लिखी गई है वे कृष्णनगर कालिज की लाइब्रेरी या एशियाटिक सोसाइटीसे संग्रह की गई थीं। बौद्ध दर्शनके मतोंका सारांश श्रीयुक्त रायशरच्चन्द्रदासबहादुर सी.आई.ई. के तिव्वत और सिंहल से लाए और बुद्धिस्टटेक्सट बुक सोसाइटीकृत प्रकाशित ग्रन्थोंके आधार पर लिखे गए हैं ।

अन्त में हम श्रीयुक्त राजेन्द्रचन्द्र शास्त्री, महाशय का धन्यवाद करते हैं जिन्होंने पुस्तक प्रकाशन में हमारी विशेष सहायता की है ।

एशियाटिक सोसाइटी } श्रीसतीशचन्द्र आचार्य  
कलकत्ता १०-३-१९६०

## द्वितीयसंस्करण का विज्ञापन ।

सन् १८९७ ई०में “आत्मतत्त्वप्रकाश” पहला संस्करण निकला था। अब वह समाप्त होगया। कुछ मित्रों के अनुरोधसे दूसरा संस्करण प्रकाशित किया जाता है। प्रेसिडेन्सी कालिज के दर्शनशास्त्रके अध्यापक डाक्टर श्रीयुक्त पी. के. राय महोदयने एक बार कहा था कि इस पुस्तिका का नाम “न्याय-तत्त्वप्रकाश” वा न्यायशास्त्रसम्बन्धीय और कोई नाम रक्खा जाता तो अच्छा होता। अंग्रेजी और बंगलापत्र संपादकों ने “भारतीयदर्शनों के संक्षिप्त इतिवृत्त”को अधिक विस्तृतरूपमें लिखनेका परामर्श दिया था। जर्मन पण्डित श्रीयुक्त मोक्षमूलर महोदयने लिखाथा कि न्यायदर्शन के जिन २ ग्रन्थों के आधार पर “आत्मतत्त्वप्रकाश” लिखा गया है उन सब ग्रन्थों के नाम और उनके वचन यदि पादटीका में देदिए जाते तो ग्रन्थकी कार्यकारिता और भी बढ़ जाती।

बड़े दुःख के साथ लिखते हैं कि इस संस्करणमें ऊपर लिखी किसी आज्ञाका भी पालन हम न कर सके । जीवात्मा के विषय में न्याय-शास्त्रका जो मत है उसी की व्याख्या इस पुस्तक में की है अन्य कोई विषय नहीं छुआ गया । भारतवर्ष के दर्शनशास्त्रों का इतिहास स्वतन्त्ररूप में लिखने की इच्छा है ; इसलिए इस पुस्तकमें प्रकाशित 'इतिहास' में कोई वृद्धि नहीं की गई । सात आठ वर्ष पहले हमारी धारणा थी कि प्राचीन ग्रन्थों में से कोई नई बात निकालना ही पर्याप्त होता है ; उन ग्रन्थों का नाम और उनके वचन हमारे लिए ( उस समय ) विशेष आदरकी वस्तु नहीं थे । किन्तु अब मालूम हुआ, कि बिना प्रमाण के पाश्चात्य पण्डित किसी तत्त्व की पर्वाह नहीं करते । अब किसी नूतन तत्त्व के उद्धार करने की वजाय उस तत्त्व के प्रमापक ग्रन्थों ही की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हुआ है । सात आठ वर्ष पहले हमारे विचार क्या थे इस बात को लिपिवद्ध रखने के अभिप्राय से-वर्तमान



संस्करण की पाद टीका में किसी प्रमापक ग्रन्थ का वचन उद्धृत नहीं किया। प्रथम संस्करणमें जैसा छपा था अब भी वैसा ही छापा जाता है। इतना हम कह सकते हैं कि “आत्मतत्त्वप्रकाश” के लिखने में हमने कुछ कम परिश्रम नहीं किया। न्यायसूत्र, वात्स्यायनभाष्य, उद्योतकर का वार्त्तिक, वाचस्पति मिश्रकी वार्त्तिक-तात्पर्य टीका, उदयनाचार्य की कुसुमाञ्जलि और आत्मतत्त्वविवेक इत्यादि अनेक ग्रन्थोंका भलीप्रकार निरीक्षणकर जीवात्मा के सम्बन्ध में जो मत प्राप्त किया उसी के सहारे पर यह ग्रन्थ लिखा गया है।

पूज्यपाद न्यायरत्न महाशयने हमको लिखा था कि न्यायसूत्र के बनानेवाले का नाम गौतम नहीं प्रत्युत गोतम है। वास्तव में प्राचीन ग्रन्थों में गोतम ही नाम मिलता है। किन्तु किसी २ टीकाकार ने गौतम भी लिखा है। इस देशमें न्यायसूत्र “गौतमसूत्र” के नामसे ही प्रसिद्ध हैं। नैषधचरित के २१ वें सर्ग में भी ‘गौतम’ शब्द ही व्यवहृत हुआ है। कोई २ कहते हैं

कि यह शब्द इस स्थानमें श्लिष्ट है । गोतम  
शब्द का एक अर्थ है गो + तम अर्थात् प्रधान गो ।

प्रेसिडेन्सीकालिज, } श्रीसतीशचन्द्रआचार्य  
कलिकाता ।  
१५ जून १९०२ ई०



# भारतीय दर्शनोंका संक्षिप्त इतिहास ।

दर्शनों की उत्पत्ति  
और  
उनका पौर्वापर्य

दर्शनोंका अनुशीलन करने से बुद्धि-  
शक्ति बढ़ती है। वेदोंका उपनिषद्

काल ही दर्शन शास्त्रों की उत्पत्ति  
का आदिम काल है। वैदिककाल में सब मनुष्य  
वेदोक्त कर्म करते थे। उसके विरुद्ध कोई कुछ न  
करता था। कुछ समय बाद कुछ ऐसे मनन-  
शील पुरुष उत्पन्न हुए जिन्होंने कहा कि कोई  
वात केवल इसी लिए मान्य नहीं है कि वह  
बहुत काल से मानी जाती है। उनकी अनन्य  
प्रतिभा ने युक्ति को प्राधान्य दिया। उन्होंने  
ईश्वर, परलोक, जन्म, मरण आदि विषयोंमें  
अनेक तर्क-वितर्क किए। कुछ समय बाद यही  
वातें दर्शन-शास्त्रोंके बीजरूप में परिणत हुईं।  
दर्शन† छः हैं। उनके नाम हैं—१ सांख्य, २ न्याय,  
३ वैशेषिक, ४ मीमांसा, ५ पातञ्जल और ६

† कोई २ चार्वाक-दर्शनको भी दर्शनशास्त्र मानते हैं। चार्वाक  
किसी व्यक्ति का नाम नहीं। जो प्रत्यक्ष के सिवा और कोई प्रमाण एवं  
दिखाई देनेवाले जगत् के सिवा परलोक को स्वीकार नहीं करते वही  
चार्वाक कहलाते हैं। महर्षि बृहस्पति इस सम्प्रदायके आदि-गुरु हैं।

वेदान्त । इन दर्शनों में कौन पहला और कौन पिछला है, इसका निश्चय करना बहुत कठिन है । बहुतों के मतमें सांख्यदर्शन सबसे पुराना है । इस दर्शन के आविष्कर्ता महर्षि कपिल हैं । वेदमें भी इनका उल्लेख पाया जाता है † । श्रीमद्भागवत-पुराण में लिखा है कि महर्षि कपिल आदि-ज्ञानी थे । सांख्य के बाद न्याय-दर्शन बना । उसके बाद वैशेषिक-दर्शन बना । वैशेषिक के बाद महर्षि जैमिनि ने मीमांसा, महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन और महर्षि कृष्ण-द्वैपायन ने ब्रह्मसूत्र बनाया । किन्तु मेरे गुरु महामहोपाध्याय श्रीयुक्त चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार

† श्रीमच्छङ्खाचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में श्वेताश्वतरोपनिषद् से सांख्यदर्शन के प्रणेता कपिल के सम्बन्ध में जो श्रुति उद्धृत की है वह यह है:—

श्रुतिश्च नवति-ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे शनैर्विभर्ति जायमानञ्च पश्येत् ।  
इस भाष्य पर आनन्दगिरि ने नीचे लिखी टीका की है:—

यस्तावदग्रे जायमानं ऋषिं स्थितिस्थले च प्रसूतं भूतमविष्यद्वर्त्तमानार्थं शनैर्विभर्ति पुष्पाति तमीश्वरं पश्येदिति योजना । योगिप्रत्यक्ष-मृलया सांख्यस्मृतीनां श्रुत्यनपेक्षत्वात्तद्विरोधेऽपि नाप्रामाण्यमिति फालितमाह ।

ने अपनी वैशेषिक टीका में अनेक युक्तियों द्वारा वैशेषिक को ही सबसे प्राचीन ठहराया है ।

कपिल का सांख्यदर्शन के बनाने वाले महर्षि सांख्यदर्शन कपिल के आविर्भावका पता लगाना बड़ा कठिन कार्य है । वेद, रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत-पुराण आदि पुराने ग्रन्थोंमें उनका जिक्र पाया जाता है । परमर्षि कपिल सांख्यदर्शन के सबसे पहले प्रवर्तक हैं । आसुरि ने उनसे ही उक्त ज्ञान की प्राप्ति की । पञ्चशिखने आसुरि से शिक्षा प्राप्त करके उसका प्रचार किया । ईश्वर कृष्णने शिष्यपरम्परा से प्राप्त सांख्य-ज्ञान-लाभ करके उसको आर्या छन्द में ग्रथित किया । इसके बाद वाचस्पति मिश्रने सांख्यतत्त्व-कौमुदी बनाकर सांख्यदर्शन के प्रचार का द्वार उन्मुक्त कर दिया । इस समय सांख्यदर्शन-सम्बन्धी जितने ग्रन्थ मिलते हैं उन सबमें सांख्यतत्त्वकौमुदी ही सबसे प्राचीन है ।

इस समय सांख्य-सूत्र के नामसे जो ग्रन्थ मिलता है और विज्ञानभिक्षु ने सांख्यप्रवचन नामसे जिसका भाष्य किया है तथा अनिरुद्ध ने जिस पर टीका की है वह, बहुतों के मतमें,

कपिल-कृत सांख्यसूत्र नहीं, बल्कि सांख्य-तत्त्वकौमुदी से सङ्कलन किया गया ग्रन्थ है । महाभारत की रचना के पहले भी सांख्यदर्शन का मत विद्यमान था । महाभारत, भगवद्गीता और भागवत-पुराण आदि में सांख्यदर्शन का यत्र तत्र जो मत उद्धृत है वह आपसमें कहीं २ नहीं मिलता । शङ्कराचार्य अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्यमें लिखते हैं कि जिस प्रकार अनेक पहलवानों में से सबसे बड़े पहलवान को पछाड़ देनेसे यह माना जाता है कि सभी पहलवान पछाड़ दिए गए उसी प्रकार जब हमने सांख्यदर्शन के मत का खण्डन कर दिया तब मानों अन्य दर्शनों का भी खण्डन हो गया ।

न्यायदर्शन के बनाने वाले गौतम की जन्मभूमि न्यायदर्शन के मतका ही अवलम्बन करके यह छोटी सी पुस्तक लिखी गई है । पृथ्वीपर न्यायदर्शन कब बना, इसका निर्णय करना बहुत कठिन कार्य है । न्यायदर्शन के बनाने वाले गौतम कौन थे ? किस देश के किस नगर में उन्होंने जन्म लिया ? उनके पिताका क्या नाम था ? वे गृहस्थ थे या विरक्त ? इन प्रश्नों का उत्तर

ठीक २ नहीं मिलता । वायुपुराण में लिखा है कि महर्षि गौतमने श्वेतवराह कल्पमें ब्रह्माके सानस पुत्र के रूप में जन्म-ग्रहण किया । चाल्मीकिरासायणमें अहल्याके स्वामी गौतमका जिक्र है । महासहोपाध्याय श्रीयुत महेशचन्द्र न्यायरत्न, सी. आई. ई. महोदयने, एक रिपोर्ट में, सारन जिले के अन्तर्गत रवेल गञ्जके पास गटना नामके गांव में गौतम-टामसन नामकी पाठशालाका उल्लेख किया है । कोई २ इसीको गौतमकी जन्मभूमि समझते हैं । किसीके मत में मगधसे मिथिला जाते हुए, मार्ग में, बक्सर के पास, आगीरथी के किनारे, गौतम का आश्रम था । कुछ लोग कहते हैं कि दरभङ्गा से सीतामढ़ी की तरफ़ जो रेल गई है उसके पासही कहीं गौतम का आश्रम था । वहाँ एक पत्थर पड़ा है; उसीको लोग अहल्या का पाषाण-शरीर कहते हैं । यह स्थान दरभङ्गा से ईशानकोण में ३ मील की दूरी पर है ।

मिथिलामें गौतमका प्राचीन समय से आज तक जन्म और मिथिला में न्यायशास्त्र की न्याय-शास्त्र की चर्चा चर्चा विशेषरूपसे होती आई है । इससे अनुमान होता है कि मिथिला ही

में गौतम ने जन्म-ग्रहण किया होगा । दिग्वि-  
जयी शङ्कराचार्य मिथिला के अद्वितीय मीमां-  
सक और नैयायिक मण्डनमिश्रसे पहले ही  
पहल हारे थे । गौतम सूत्रों पर भाष्य रचने  
वाले पक्षिल स्वामी ( वात्स्यायन ), तत्त्वचिन्ता-  
मणि के रचयिता गङ्गेश उपाध्याय, न्याय-  
पदार्थमाला के लेखक पक्षधर मिश्र, किरणा-  
वलीप्रकाश के लेखक बर्द्धमान उपाध्याय,  
न्यायवार्त्तिक-तात्पर्य-टीका के लेखक वाचस्पति  
मिश्र आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थकारोंने मिथिला  
ही में जन्म-ग्रहण किया था ।

नवद्वीप में पन्द्रहवीं शताब्दीके अन्तमें नव-  
न्यायशास्त्रकी चर्चा द्वीपके पण्डित रघुनाथ शिरा-  
मणि मिथिला से न्यायशास्त्र पढ़कर बङ्ग-देशमें  
आए । उन्होंने बङ्गाल में न्यायशास्त्रकी चर्चा  
आरम्भ की । बादमें नवद्वीप-वासी जगदीश  
तर्कालङ्कार, मथुरानाथ तर्कवागीश, दिग्वि-  
नाथ न्यायपञ्चानन, गदाधर भट्टाचार्य आदि  
विद्वानों ने इस शास्त्र में बड़ी उन्नति की ।  
नवद्वीपमें पहला नैयायिक कौन हुआ, इसका



निर्णय करना बहुत मुश्किल है । पूज्यपाद न्यायरत्न महाशयने अपने न्यायशास्त्रसम्बन्धी किसी लेखमें सिद्ध किया है कि कुसुमाञ्जलि के प्रसिद्ध व्याख्याकार रामभद्र सिद्धान्त-वागीश ही नवद्वीप के आदि-नैयायिक हैं । उनके बादही वासुदेव सार्वभौम, रघुनाथ शिरोमणि, भवानन्द सिद्धान्तवागीश आदि नैयायिकोंने नवद्वीप में जन्म लिया ।

न्यायदर्शनके ग्रन्थ महर्षि गौतम के बनाए सूत्रोंकी व्याख्या सबसे पहले पक्षिल स्वामी ने की । उसके बाद उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य ने क्रमसे न्यायसूत्रोंपर वार्त्तिक-तात्पर्यटीका और वार्त्तिक-तात्पर्य-टीका परिशुद्धि इत्यादिकी रचना की । इसके अलावा जयन्त और विश्वनाथ की बनाई टीकाएँ भी मौजूद हैं । रामकृष्णकी बनाई तर्कचन्द्रिका, उदयनाचार्य-कृत द्रव्यगुणप्रकाशकिरणावली, आत्मतत्त्वविवेक और कुसुमाञ्जलि, रघुदेव भट्टाचार्य-कृत द्रव्यसारसंग्रह, महादेव-पण्डित-कृत न्यायकौस्तुभ, बल्लभ-पण्डित-कृत न्यायलीलावती, अनन्तभट्ट-कृत

पदार्थचन्द्रिका, धर्मोत्तराचार्य-कृत(\*)न्याय-विन्दु-टीका आदि बहुसंख्यक ग्रन्थों से न्याय-दर्शन पुष्ट किया गया ।

न्यायदर्शनप्रणेता  
पक्षिल स्वामी  
कब हुए और दिङ्नाग  
का वृत्तान्त

न्यायदर्शन-प्रणेता कब हुए, श्री  
टीक २ नहीं जाना जासकता ।  
जैन हेमचन्द्र अपने अभिधान-

चिन्तामणि नामक ग्रन्थ में पक्षिल स्वामी और चाणक्यको एक ही व्यक्ति बताते हैं । यदि पक्षिल स्वामी और चाणक्य एक ही थे, तो वे ईसा के पूर्व चौथी शताब्दीमें, चन्द्रगुप्तकी सभा में थे, यह बात एक तरह से निश्चित है । वाचस्पति मिश्र अपनी न्याय-वार्त्तिक-तात्पर्यटीका में लिखते हैं-“भगवान् पक्षिल स्वामीने न्यायसूत्रोंका जो भाष्य लिखा है, दिङ्नागाचार्य आदि बौद्ध पण्डितों ने उसके विरुद्ध अनेक कुतर्क उपस्थित किए हैं । उन कुतर्कोंको दूर करनेके लिए उद्योतकरने न्याय-वार्त्तिक लिखा । अब मैं उसी न्याय-वार्त्तिककी

( \* ) धर्मोत्तराचार्य बौद्धमतअवलम्बी थे । बौद्धमतका अवलम्बन करके उन्होंने न्यायविन्दु-टीका बनाई थी ।

टीका लिखता हूँ" । कविवर कालिदासने अपने सुप्रसिद्ध काव्य मेघदूत में दिङ्नागाचार्य को अपने काव्यका निन्दक बताया है । इससे मालूम होता है कि दिङ्नागाचार्य कालिदासके समसामयिक थे । श्रीयुत शरच्चन्द्रदास, रायबहादुर, सी. आर्ह.ई., ने तिब्बतीय ग्रन्थोंका अनुसन्धान करके हमसे कहा है कि दिङ्नागाचार्यने दक्षिण-देशवर्ती काञ्चीनगर के पास सिंहवक्र नामक गाँवमें जन्म-ग्रहण किया था । वे जाति के ब्राह्मण थे । उन्होंने बाल्यकाल से ही न्याय-शास्त्र का अध्ययन किया था । वे बौद्धधर्म में दीक्षित होकर नागदत्त के सम्प्रदायमें शरीक हुए । वे वसुबन्धु ( \* ) के शिष्य थे । एकबार उन्होंने उत्कल के सारे दार्शनिकों को परास्त करके तर्कपुङ्गव की उपाधि प्राप्त की थी । उनका बनाया प्रमाणसमुच्चय नामक ग्रन्थ तिब्बत के पुस्तकालय में मौजूद है ।

न्यायदर्शन का संक्षिप्त मत और उद्देश्य      न्यायदर्शन के बनाने का क्या उद्देश्य था, इसका वर्णन करना आवश्यक प्रतीत होता है । महर्षि गौतम पृथ्वी,

(\*) वसुबन्धु ५४० ईसवीमें मौजूद थे ।

जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन इन सब द्रव्यों को नित्य मानकर विश्वकी समस्त घटनाओंकी व्याख्या करते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और दिशा आदि के परस्पर संयोग से जड़-जगत् की उत्पत्ति हुई है। जड़-जगत् के साथ जीवात्मा का मेल होनेसे बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न, भावना धर्म और अधर्म इन नौ प्रकारके गुणों की उत्पत्ति हुई है। भूमण्डलपर उत्पन्न होते ही हम इन नौ गुणों से आकृष्ट होकर बन्धनको प्राप्त होते हैं। जिस दिन से बँधे उसी दिनसे निरन्तर सुख और दुःख भोग रहे हैं। संसार में दुःखोंका बाहुल्य है—जो थोड़ा बहुत सुख है वहभी जब दुःख ही में बदल जाता है तब इस जन्म का चरम फल दुःखों का भोगना ही रहजाता है। किसतरह जीवात्मा का जड़ जगत् से सम्बन्ध टूटे और दुःखों का सम्पूर्ण नाश हो, इसी का उपाय बताना न्यायदर्शनका प्रधान उद्देश है। तत्त्व-ज्ञान का अनुशीलन करते करते किस प्रकार दुःखों का

सम्पूर्ण और अत्यन्त ध्वंस होता है एवं आत्मा को मुक्ति-प्राप्ति होती है, यही बात न्यायदर्शन में वर्णन की गई है ।

सांख्य दर्शन के बहुत सम्भव है, महर्षि गौतम अतको प्रश्न करके ही ने कपिलके मतका अवलम्बन न्यायदर्शन की करके ही अपने दर्शन को रचना की गई है । बनाया ( ऋ ) है । कपिल कहते हैं कि प्रकृति ( जड़-जगत् ) और पुरुष (जीवात्मा) के परस्पर सम्बन्धसे यथा क्रम सहत्, अहङ्कार, ११ इन्द्रियों, ५ तन्मात्राओं और ५ महाभूतों की सृष्टि हुई है । महर्षि गौतम इन २५ तत्त्वों में से सहत्, अहङ्कार, ५ तन्मात्राएँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ ), इनको छोड़ देते हैं । अवशिष्ट जीवात्मा, ५ महाभूत, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ और मन इन्हीं को स्वीकार करके वे जगत्की

(\*) पण्डितवर त्रियुक्त राजेन्द्रचन्द्र शास्त्री, एम. ए., के मत में यह बात ठीक नहीं । उनके मतमें कपिल के मतका अवलम्बन करके गौतम ने न्यायदर्शन नहीं बनाया । कपिल एकही प्रकृतिसे विश्वका आविर्भाव मानते हैं, किन्तु गौतम विश्वका विश्लेषण खण्ड खण्ड में करके असंख्य परमाणुपुञ्ज तक पहुँचते हैं ।

घटना-माला की व्याख्या करते हैं। महासुनि कपिलने परमेश्वर, काल और दिशा इन तीनों चीजों को बेकार समझ कर छोड़ दिया है। गौतमने इन तीनों को भी अपने दर्शन में अङ्गीकार किया है।

बौद्धदर्शन का बौद्धधम्म के संस्थापक शाक्य मुनि कालनिर्देश ने भी कपिल का मत ग्रहण करके अपने मत का प्रचार किया है। बौद्धदर्शन चार श्रेणियों में विभक्त है। यथा—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक। इनमें माध्यमिक दर्शन सबसे अधिक पुराना है। ईसा के पहले चौथी या पाँचवीं शताब्दी में लिखी गई प्रज्ञापारमिता-नामक पुस्तक में माध्यमिक दर्शन का मत बहुत ही अच्छी तरह से लिखा गया है। इससे मालूम होता है कि माध्यमिक दर्शन का मत उस समयके पहले खूब प्रचलित था। ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में विदर्भ-देशवासी आर्य नागार्जुन नामक प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक ने इस दर्शन का मत संग्रह करके माध्यमिक दर्शन की रचना की। चन्द्रकीर्ति ने

उस पर वृत्ति लिखी। श्रीयुक्त राय शरच्चन्द्र-  
दास बहादुर, सी०आई०ई०, त्रिबन्तीय ग्रन्थोंके  
सहारे लिखते हैं कि नागार्जुन ने ईसाके पूर्व  
द्वितीय शताब्दी ( \* ) में विदर्भ- देशके किसी  
ब्राह्मणकुल में जन्म-ग्रहण किया। बाद को  
बौद्धधर्म में दीक्षित होकर प्रज्ञापारमिता की  
टीका आदि बहुसंख्यक ग्रन्थ उन्होंने बनाए।  
बोधिचर्यावतार ग्रन्थके कर्त्ता शान्तिप्रभ लिखते  
हैं:-“दर्शनशास्त्र के सूत्रों को सब पढ़ें। आर्य  
नागार्जुन के बनाए सूत्रसमूह को तो जरूर ही  
मन लगाकर पढ़ें”। प्रसिद्ध चीनी परिव्राजक  
हेनसाङ्गने भारतवर्ष के भ्रमण-वृत्तान्तमें लिखा  
है-“जिन चार सूत्र्योंके प्रकाश से यह जगत्  
आलोकित है, आर्य नागार्जुन भी उन्हीं में से  
एक हैं”। काश्मीर के इतिहास राजतरङ्गिणी  
में नागार्जुन नामके एक बौद्ध नरेश का जिक्र है।  
इस नरेशने बहुत से बाग और बिहार बनवाये

---

( \* ) किसी किसी के मतमें ईसा के पहले प्रथम शताब्दी में  
और किसी किसीके मतमें ईसाके बाद प्रथम शताब्दी में।

थे । आर्य नागार्जुन और यह नरेश एकही व्यक्ति थे या नहीं, इसका निश्चय करना असम्भव सा है ।

माध्यमिक सूत्रों पर वृत्ति लिखने वाले चन्द्रकीर्ति ईसा की परवर्ती सप्तम या अष्टम शताब्दी में विद्यमान थे ।

बौद्ध लोग रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार—इन पाँच स्कन्धों के सिवा और किसी पदार्थ को नहीं मानते । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पाँच विषय और आँख, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा और मन ये छः इन्द्रियाँ रूप-स्कन्ध के अन्तर्गत हैं । विषयों के साथ इन्द्रियों का यथासम्भव मेल होने से वेदना-स्कन्ध ( बुद्धि ) की उत्पत्ति होती है । इसीसे 'अहं'-ज्ञान की उत्पत्ति होती है । उसीका नाम विज्ञान-स्कन्ध है । अहं-ज्ञानके साथ नाम, रूप, आदि के ज्ञानसमूह की जो उत्पत्ति होती है उसे संज्ञा-स्कन्ध कहते हैं । अहं-ज्ञान और नाम, रूप आदि के ज्ञानसमूह से संस्कार-स्कन्धकी उत्पत्ति होती है । इन पाँच प्रकार के



ज्ञानसमूह का नाम ही आत्मा है । बौद्ध  
कार्य-कारण का भेद नहीं मानते ।

साध्यामिक, योगाचार साध्यामिक सम्प्रदाय के बौद्ध  
सौत्रान्तिक और किसी पदार्थ का स्वभाव (\*)  
वैभाषिक सम्प्रदाय के नहीं मानते । पदार्थ-समूहकी  
बौद्धोंका मत केवल प्रतीयमान सत्ता ( एक

ही सत्ता से दूसरे की सत्ता एवं एकके अभाव  
में दूसरे का अभाव, जैसे आँखके होनेपर रूप  
की सत्ता और आँखके अभाव में रूपका  
अभाव या रूपके अभाव में आँखका अभाव )  
मानते हैं, परमार्थदृष्टिसे जड़ और चैतन्य कुछ भी  
नहीं मानते । उनके मतमें विश्व शून्य से  
उत्पन्न और शून्यही में लय होता है । दृश्यमान  
जगत् मायामात्र है । अविद्या का नाश होने  
पर जगत् फिर शून्यता में परिणत होजाता  
है । योगावलम्बन-पूर्वक इसी असीम,  
अनादि, अतिगम्भीर, शान्ति-निकेतन,  
सहासाम्य के आश्रय तथा वाणी और मनसे  
अगोचर शून्यता की भावना करनी चाहिए ।  
इस प्रकार भावना करते-योगी शून्यता में लीन

( \* ) स्वभाव से मतलब यथार्थ सत्ता से है ।

होजाता है और उसको निर्वाण प्राप्त होता है। फिर उसको संसार-ताप से तप्त नहीं होना पड़ता। योगाचार-सम्प्रदाय के बौद्धज्ञानके सिद्धा और किसी विषय का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते; किन्तु ज्ञान का याथार्थ्य स्वीकार करते हैं। उनके मतमें ज्ञान-समूह क्षणिक है; पूर्व-पूर्व सुहृत्त का ज्ञानसमूह, पर-पर सुहृत्त में, संक्रान्त होकर जो अविच्छिन्न प्रवाह उत्पन्न करता है वही 'हम' या 'आत्मा' है। सौत्रान्तिक ज्ञान का स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि यद्यपि हम बाह्यार्थ प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, तथापि ज्ञानद्वारा उसके अस्तित्व का अनुमान कर सकते हैं। वैभाषिक, बाह्यार्थ और ज्ञान, दोनों का, स्वीकार करते हैं। सांख्यदर्शन की छायापर ही बौद्धदर्शन की रचना हुई है, इस बातपर पद पद पर प्रमाण मिलता है।

बहुत करके वैशेषिक विचार करनेसे मालूम होता है कि बौद्ध और वैशेषिक दर्शन न्यायदर्शन के बाद बने हैं।

हैं । परमाणुवाद के स्रष्टा महर्षि गौतम ही हैं । जड़-पदार्थ भी परमाणुओं से बने हैं, इस बात को सब से पहले गौतम ही ने जाना । महर्षि कणाद ने परमाणुवाद को सम्पूर्णरूप में ग्रहण किया; किन्तु उनके मतका विशेषत्व यही है कि वे परमाणुओं में परस्पर भेद दिखाने के लिये परमाणुनिष्ठ एक एक विशेष पदार्थ अलग २ स्वीकार करते हैं । इस विशेषता के कारण ही उन के दर्शन का नाम वैशेषिक हुआ । इस के सिवा कणाद ने गौतम के बताए प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—इन्हीं चार प्रमाणों को काफी समझा है । वेकार जानकर उपमान और शब्द—इन दो प्रमाणों को उन्होंने छोड़ दिया है ।

मालूम होता है कि बौद्धों का क्षणविज्ञान-वाद गौतम के परमाणुवाद का अनुकरण मात्र है । महर्षि गौतम का कथन है कि जड़पदार्थ-समूह अति-अल्प-स्थान-व्यापी है । योगाचार-सम्प्रदाय के बौद्धों का कथन है कि ज्ञानसमूह अति-अल्प-क्षणस्थायी है ।

मीमांसा-दर्शन

वैतर

जैमिनि शायर स्वामी

और कुमारिल भट्ट

बहुतोंका खयाल है कि जैमिनि

शाक्य मुनि के बाद उत्पन्न

हुए हैं। वे कहते हैं कि जैमिनि

अपने को बौद्ध-धर्मावलम्बी बताकर किसी बौद्ध गुरुके पास पढ़ाकरते थे। एक बार गुरु निरीश्वर-वादकी व्याख्या कर रहे थे। जैमिनि भी सुन रहे थे। जैमिनि से न रहा गया। उनकी आँखों से आँसू टपकने लगे। इस घटना को देखकर, कहा जाता है, वे लोग इन फे कंपट को जान गए। उन्होंने इनको वहाँ से निकाल दिया। जैमिनि वहाँसे चले आए। बौद्ध लोग वेद-विरोधी हैं, इसका प्रमाण उन्हें मिल गया। तब उन्होंने अपनी प्रतिभा के बलसे मीमांसा-दर्शन की रचना की। किन्तु गुरु के पास उन्होंने निरीश्वर-वाद की जो शिक्षा प्राप्त की थी वह उनके मनसे दूर न हुई। इसीसे उन्होंने भी अपने दर्शन में ईश्वर का अस्तित्व नहीं स्वीकार किया। जैमिनि ने अपने दर्शन में यज्ञ-सम्बन्धिनी परस्पर विरोधिनी श्रुतियों की

मीमांसा की है। बादको शबर स्वामीने मीमांसा-  
भाष्य में और कुमारिल भट्ट ( \* ) ने मीमांसा-  
चार्त्तिक में अनेक दार्शनिक बातों का उल्लेख  
किया। भट्टपाद, गुरुपाद, प्रभाकर आदि दार्शनिकों  
ने मीमांसा-दर्शन के अनेक जटिल तत्त्वों का  
संमाधान किया है। कहते हैं कि शबर स्वामीका  
असली नाम आदित्यदास था। उन्होंने बौद्धों  
के भय से कुछ काल शबरोंके बीच वास किया  
था। इसीसे उनका नाम शबर स्वामी होगया।  
किसी किसी के मतमें शबर स्वामी उज्जयिनी  
के राजा विक्रमादित्य के पिता ( + ) थे। ये

(\*) कुमारिलभट्ट किस समय हुए, इस बात का ठीक २ प्रमाण  
यहाँ मिलता। उनके मीमांसा-चार्त्तिक में कविवर कालिदास के अभि-  
मान शाकुन्तल का निम्नलिखित पद्य उद्धृत है। इससे पता लगता है  
है कि भट्ट महोदय कालिदास के परवर्ती हैं:-

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥

( + ) ब्राह्मण्यामभवद्ग्राहमिहिरो ज्योतिर्विदामग्रणी,

राजा भर्तृहर्षिश्च विक्रमनृपः क्षत्रात्मजायामभूत् ॥

वेद्यायां हरिचन्दैद्यात्रैलको जातश्च बहुः कृती,

शूद्रायास्तमरः पदेव शबरस्वामिद्विजस्यात्मजाः ॥

( पुरुष-परीक्षा-टीका )

वातों कहाँ तक ठीक हैं, नहीं कहा जा सकता ।

पतञ्जलि और पाणिनि के भाष्यकार और योग-  
चंगदर्शन दर्शन के बनानेवाले पतञ्जलि  
एक ही हैं या दो, इसका ठीक २ पता नहीं  
चलता । तथापि भाष्यकार पतञ्जलि ईसा के  
पूर्व दूसरी शताब्दी के प्रारम्भमें विद्यमान थे,  
यह योरप के पण्डितों का मत है । योग-दर्शन-  
प्रणेता पतञ्जलि ने सभी बातों में सांख्यदर्शन-  
प्रणेता कपिलका अनुसरण किया है । विशेषतः  
इतनी ही है कि कपिल ईश्वर को नहीं मानते,  
किन्तु पतञ्जलि ईश्वर को मानते हैं और  
जीवात्मा किस प्रकार ईश्वरको प्राप्त कर सकता  
है, इस बात को अपने दर्शन में बताते हैं ।

वेदान्तदर्शन, ब्रह्मसूत्र अर्थात् वेदान्तदर्शन  
बोधायन-भाष्य तथा का बनाने वाला कौन है, इस  
द्वैताद्वैत-वाद का निर्णय करना कठिन है ।  
आदि मूल-सूत्रों में वादरि, बादरा-  
यण और जैमिनि का नाम और मत उल्लि-

रचित हुआ है । बहुतों का मत है कि वेदान्त-दर्शन महर्षि कृष्णद्वैपायन का रचा हुआ है । इससे सूचित होता है कि कृष्णद्वैपायन और बादरायण एक नहीं, जुदा जुदा दो पुरुष हैं । सूत्रसूत्रों में योगदर्शन, क्षणिकवाद, शून्यवाद आदि मतों का उल्लेख है । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन दर्शनों के बाद ही वेदान्त-दर्शन बनाया गया । ब्रह्मसूत्रों के बनाने वाले के मन का भाव क्या था, यह जानना अति कठिन है । शङ्कराचार्य, रामानुज, बल्लभाचार्य, सध्वाचार्य आदि दार्शनिकों ने अपने-अभिप्राय के अनुसार वेदान्त-दर्शन से अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद और द्वैतवाद आदि मत निकाले हैं । वेदान्त-दर्शन का सबसे पुराना भाष्य बौधायन का बनाया हुआ है । रामानुजने अपनी बनाई वेदान्त-व्याख्यामें अपने मत की पुष्टि के लिए बौधायन का मत उद्धृत किया है ।

माध्यमिक दर्शनका मत      माध्यमिक-सम्प्रदाय ( \* )  
 और      के बौद्धों के और शङ्करा-  
 शङ्करका अद्वैत-वाद      चाण्य के मतमें परस्पर

बहुत कुछ सादृश्य है । माध्यमिक जिसप्रकार पारमार्थिक और सांवृत्तिक दो अवस्थाएं मानते हैं, शङ्कराचार्य भी उसी प्रकार पारमार्थिक और व्यावहारिक दो अवस्थाएं स्वीकार करते हैं । माध्यमिकों के मत में, मुक्तावस्थामें, जीवात्मा और जगत् शून्यतामें परिणत होजाता है(†) ।  
शङ्कराचार्य के मतमें जीवात्मा और जगत्

( \* ) माध्यमिक ( महायान ) सम्प्रदाय के बौद्धोंका आदि ग्रन्थ प्रज्ञापारमिता है । इस ग्रन्थ में अविद्या, माया आदिकी विशद व्याख्या की गई है:—

अविद्या—यथा सारिपुत्र न संविद्यन्ते तथा संविद्यन्ते एवमविद्यमानास्तेनोच्यन्ते अविद्येति ।

माया—धर्मतैषा सुभूते धर्माणां मायाधर्मतामुपादाय स्यात् । यथापि नाम सुभूते दक्षो मायाकरो वा मायाकरान्तेवासी वा चतुर्थमहापथे रुहान्तं जनकायमभिनिर्भिभीते ।

अभिनिर्माय तस्यैव महतो जनकायस्य अन्तर्दानं कुर्यात् । तर्हि कमन्यसे सुभूते अपि तु तत्र केनचित्काचित् इतो वा नाशितो वा अन्तर्हितो वा ।

( † ) शून्यतागतिका हि सुभूते सर्वधर्मास्तेतां गतिं न व्यतिवर्तन्ते ।

( प्रज्ञापारमिता )



ब्रह्ममें लीन होजाता है । शङ्कराचार्य जिसको निर्गुण और निष्क्रिय ब्रह्म कहते हैं बौद्ध उसीको शून्य(?) कहते हैं । दोनों के मतमें, मुक्तावस्था में, अविद्या का ध्वंस होजाता है । वेदान्तियों के मतमें—“मैं ब्रह्म हूँ”—यह ज्ञान उत्पन्न होनेपर मुक्ति प्राप्त होती है । माध्यमिकों के मतमें—‘शून्यतामात्र हूँ’—इस ज्ञानके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है । सर्वदर्शनसंग्रह-प्रणेता माधवाचार्य ने प्रसङ्गक्रमसे पद्मपुराण का जो श्लोक उद्धृत किया है उसमें लिखा है कि मायावाद छिपा हुआ बौद्ध ( २ ) मत है । किन्तु पण्डितवर श्रीयुक्त राजेन्द्रचन्द्र शास्त्री, एम. ए., महोदय कहते हैं कि यह वचन शङ्कराचार्य के बाद के वेदान्त-सिद्धान्तों पर किया गया कटाक्ष है । विज्ञानभिक्षु के मतमें प्राचीन वेदान्तमें माया

( १ ) गम्भीरमिति सुभूत शून्यताया एतदधिवचनम्, शून्यताया एतदधिवचनं यदप्रमेयमिति ।

ये च सुभूत शून्या अक्षया अपि ते, या च शून्यता अप्रमेयतापि सा (प्रज्ञापारमिता) ।

( २ ) मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव तत् ।

मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा ॥

की गन्ध तक नहीं है । इसीलिए वे अपने प्रवचन-भाष्य में यहाँ तक लिख गए हैं कि अन्न जो अपने को वेदान्ती होनेका अभिमान करते हैं उनका मत उल्लेख योग्य भी ( १ ) नहीं ।

महात्मा चैतन्य बहुतों के मतमें रामानुज स्वामी ही वैष्णवदर्शन के प्रवर्तक हैं । सन् वैष्णव-दर्शन १४८४ ईसवी में महात्मा चैतन्यने नवद्वीपमें जन्म-ग्रहण किया । उन्होंने भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत और मध्वाचार्य के ब्रह्मसूत्र-भाष्य का अवलम्बन करके जिस नवीन मतका प्रचार किया उससे वैष्णव-दर्शन की बहुत कुछ उन्नति हुई । महात्मा चैतन्य द्वैतवादी थे । उन्होंने भक्ति-मत का प्रचार किया । वैष्णव लोग सच्चिदानन्द ब्रह्मके आनन्दमय (प्रेममय) भाव के उपासक हैं । ये लोग वेदान्तियों की तरह, जीव ब्रह्मको एक नहीं मानते; प्रत्युत जीव और ईश्वर में उपास्य और उपासकभाव मानते हैं । ईश्वर के विषय में जीव शान्त,

( १ ) इदानीन्तनानां वेदान्तिब्रूवाणां मतं न वाच्यम् ।

( सांख्य-प्रवचन-भाष्य )

दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर--इन भावों की भावना करता है। भगवान् की असीम क्षमता को देखकर हमारे हृदयमें जिस अभूतपूर्व भावका उदय होता है उसको शान्तभाव कहते हैं। ईश्वर के हम दास हैं, यही भावना दास्यभाव है। ईश्वर की सेवा करते २ जब हम ईश्वर के साथ विशेष परिचित होजाते हैं तब सख्य-भाव उत्पन्न होता है। यह परिचय क्रम क्रमसे जब गाढ़तर होजाता है तब अपने मनमें सेवक सोचता है कि ईश्वर मुझसे गाढ़ प्रेम करता है। इसी भाव का नाम वात्सल्य है। ईश्वर के साथ पति-पत्नी भावको मधुरभाव कहते हैं। यह भाव उपासकों को विशेष प्रिय है।

ईश्वर की भक्ति करते २ जब हम उसमें लीन होजाते हैं तब वह लीनता मुक्ति कहलाती है। इसके सिवा और कोई मुक्ति नहीं। सांख्य, न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, योग और वेदान्त-दर्शन पुकार २ कर कह रहे हैं कि संसार दुःखसागर है, और इस तापकारी संसार का त्यागही परम पुरुषार्थ है। किन्तु महात्मा चैतन्य



ज्ञाता है । यहीं दर्शन प्रत्यक्ष है । रस, गन्ध, स्पर्श, और शब्द-द्वारा यथाक्रम जीव, नाक, त्वचा और कान की स्नायुओं से सम्मिलित होकर ऊपर कहेहुए प्रकारानुसार रासन, घ्राणज, स्पर्शन और श्रावण, प्रत्यक्ष उत्पन्न होते हैं । क्रमशः निर्विकल्पज्ञान से सविकल्प ज्ञान की उत्पत्ति होती है । इनके मतमें मनुष्य एक ही प्रकार का स्नायविक यन्त्र है । बाहरी जगत् की शक्ति के द्वारा यह अचरज-भरा यन्त्र चला करता है । गति, स्थिति और अनुसति आदि इस ( १ ) यन्त्र के कार्य हैं । स्नायविक उत्तेजना किस प्रकार ज्ञानरूप में बदल जाती है, इसकी

---

1. "According to this school, man is a machine, no doubt the most complex and wonderfully adapted of all known machines, but still neither more nor less than an instrument whose energy is provided by force from without, and which, when set in action, performs the various operations for which its structure fits it, namely, to live, move, feel and think."

मीमांसा ( १ ) अभी तक ये लोग नहीं कर सके। योरप के कोई कोई दार्शनिक ज्ञान-समूह को तो मानते हैं, किन्तु ज्ञान के आश्रय आत्मा को नहीं मानते। स्थिर आत्मा का स्वीकार किए बिना स्मरण, प्रत्याशा, प्रत्यभिज्ञा आदि बातें असम्भव ( २ ) हो जाती हैं।

---

1. " This doctrine is known as that of human automatism, the doctrine that we are essentially nervous machines, with a useless appendage of consciousness somehow added. The doctrine obviously fails to explain why consciousness should appear on the scene at all."—James Sully.

2. If, therefore, we speak of the mind as a series of feelings we are obliged to complete the statement by calling it a series of feelings which is aware of itself as past and future; and we are reduced to the alternative of believing that the mind or ego is something different from any series of feelings, or possibilities of them, or of accepting the paradox that something which *ex-hypothesi* is but a series of feelings, can be aware of itself as a series."—Jhon Stuart Mill.

भारत में हिन्दुओं और बौद्धों को छोड़कर जन्मान्तर-वाद और किसी धर्मसम्प्रदाय के मानने वाले दूसरा जन्म नहीं मानते । हिन्दू और बौद्ध दोनों ही भारत के सबसे प्राचीन धर्म हैं । इससे मालूम होता है कि जन्मान्तर-वाद भारत-वासियों ही का आविष्कार है । यद्यपि ईसाके दशताब्दी पूर्व पिथागोरस आदि दार्शनिकों ने ग्रीस देशमें इस मतका प्रचार किया था, किन्तु वे इसके आविष्कारक न थे । कलकत्ता-प्रेसीडेन्सी कालिज के भूतपूर्व अध्यक्ष, सी. एच. टानी, एम. ए., सी. आई. ई. महोदय ने साबित किया है कि पिथागोरस भारतवर्ष आया था । इससे प्रतीत होता है कि पिथागोरस ने भारतवर्ष ही से इस बातको सीखा । प्राचीन कालमें मिस्र वाले भी दूसरा जन्म मानते थे । अनेक विद्वानों का मत है कि उन्होंने हिन्दुओं या ग्रीसदेश-वासियों से ही यह ज्ञान प्राप्त किया था । भारत-वर्ष में किस ऋषिने, किस समय, इस मतका प्रचार किया, इसके जानने का कोई मार्ग नहीं ।

क्या किसी निरीश्वरवादी ने योरप के किसी दार्शनिक  
आरम्भमें, जन्मान्तर तथा स्वर्गीय डाक्टर कृष्ण-

वाद का प्रवर्तन किया ? मोहन बन्द्योपाध्याय, एल.

एल. डी., महोदय का विचार है कि किसी  
निरीश्वर-वादी ने जन्मान्तर-वाद निकाला है।  
यदि पूर्व-जन्मों के कर्म-फल पर-जन्मों के सुख  
दुःखों के कारण हैं तो सबसे पहले जन्म  
या कर्म-फल का निर्णय करना अत्यन्त कठिन  
है । इसीलिए दार्शनिकों ने संसार को  
अनादि माना है । आदि और अन्त से रहित  
संसार के बनाने वाले की कल्पना करना  
फिजूल है । जिसप्रकार फूल, कुछ काल बाद,  
स्वयं ही फलरूप में परिणत होजाता है ।  
उसी प्रकार हमने इस जन्म या पिछले जन्मों  
में जो अच्छे या बुरे कर्म किए हैं वे आत्मामें  
संस्काररूप से रहकर, कुछ काल बाद, आत्म-  
ग्लानि या आत्मप्रसाद के रूपमें परिणत हो  
जाते हैं । इस आत्मग्लानि या आत्मप्रसाद के  
कारण ही हम रोग, शोक, यरिताप, विपद्  
आदि के बन्धन भोगते हैं और दया, दाक्षिण्य,



क्षमा, परोपकार आदिमें मन लगाते हैं । बन्धु-  
नाश या बन्धुप्राप्ति—जो कुछ सुख दुःख हमको  
प्राप्त होते हैं, वे इस पाप या पुण्य-कर्मों के  
चरम फल हैं । जिसप्रकार एकही चीज़ समय  
पाकर कली, फूल और फलका रूप धारण करती  
है उसी प्रकार हमारे इस जन्म या पूर्व-जन्म  
के कर्म आत्मा में संस्काररूप से रहते हुए  
स्वयं ही विभिन्न रूप धारण करते हैं । अतएव  
जन्मान्तर ( पुनर्जन्म ) मानते हुए ईश्वर को  
मानना नितान्त निष्प्रयोजनीय है ।

पूर्वोक्त आशङ्क। जन्मान्तर-वाद किसी निरीश्वर-  
वादी असारवादी का चलाया हुआ है ।  
यह बात ठीक नहीं । क्योंकि ऋग्वेद, उप-  
निषद्, पुराण आदि शास्त्रों में जगह जगह  
ईश्वर और जन्मान्तर की बातें हैं । हमारे सुख  
दुःख का उपादान-कारण धर्म और अधर्म  
अवश्य हैं, किन्तु ईश्वर उसका निमित्त-कारण  
है । घड़े के उपादान और निमित्त-कारण मिट्टी  
और कुम्हार हैं । हम धर्माधर्म के अनुसार

सुख-दुःख भोग अवश्य करते हैं, किन्तु इस सुख-दुःखका नियन्ता कौन है ? कहना पड़ता है कि ईश्वर ही हमारे सुख दुःखका नियन्ता है । अध्यापक मोक्षमूलर कहते हैं— “जन्मान्तर है या नहीं, इस बातको छोड़ो; पर यह तो बताओ कि कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई दरिद्री है, कोई धनी है— इस वैषम्य का क्या कारण है ? ” इसका कारण बताते हुए भारतके ऋषियोंने जन्मान्तर का स्वीकार करके जिस असीम प्रतिभा का परिचय दिया है, पृथ्वी के किसी मनीषीने वैसा परिचय नहीं दिया ।

भारतीय मुक्ति के विषय में भारतीय ऋषियों ने मुक्तितत्त्व जिस तत्त्व का भाविष्कार किया है, जगत् की किसी जातिने वैसा तत्त्व नहीं उद्घाटित किया । भारतीय दार्शनिकों का मत है कि मुक्तावस्था में जीवात्मा अपने स्वरूप में अवस्थान करता है । कपिल कहते हैं कि जीवात्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वभाव है । संसारावस्था में देहके साथ जीवात्मा का जो अनि-

वचनीय बन्धन है, उसका अत्यन्त उच्छेद होते ही वह अपने रूप को प्राप्त होता है। गौतम कहते हैं कि देह-बन्धन से विमुक्त होते ही जीवात्मा सुख-दुःख से रहित होकर निर्गुणभाव को प्राप्त होता है। वेदान्ती कहते हैं कि मुक्तावस्था में जीवात्मा परमात्मा में लीन होकर सच्चिदानन्दभाव को प्राप्त होता है। कोई २ भीमांसक कहते हैं कि मुक्तावस्थामें आत्मा नित्य सुखका साक्षात्कार-लाभ करता है। महायान सम्प्रदाय के बौद्ध कहते हैं कि मुक्तावस्था में जीवात्मा शून्यता में लीन होजाता है। वैष्णव कहते हैं कि जीवात्मा मुक्ति-क्षणमें ईश्वर के सामीप्य और तन्मय-भाव को प्राप्त होता है। मुक्तावस्था में दुःखों का सम्पूर्ण और अत्यन्त ध्वंस होजाता है, यह बात सभी कहते हैं। ज्ञान, योग, भक्ति और कर्म- ये चार मुक्ति के उपाय हैं।

ईश्वर श्रुतिमें लिखा है कि स्वर्ग और पृथ्वी का स्रष्टा एक देव है, जो विश्वका नियन्ता

और भुवनका रक्षक ( १ ) है। उसको जानकर ही जीव मुक्त होता है। मुक्ति मिलनेका और कोई उपाय ( २ ) नहीं। महर्षि गौतम और कणाद कहते हैं—कार्यमात्र का ही कोई न कोई कर्त्ता अद्वय होता है, इस पृथ्वी-रूपकार्य का कर्त्ता ईश्वर ( ३ ) है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि योग के द्वारा ईश्वर-प्रत्यक्ष किया जा सकता है। महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास कहते हैं—जिससे इस दिग्विह्वल देनेवाले जगत् का आविर्भाव हुआ है वही ईश्वर ( ४ ) है। कोई कैसा ही कुतर्क करे हम तो यही कहते हैं—“हे ईश्वर, श्रुति और मुक्ति परम्परास्वरूपी जल से बारबार प्रक्षालित हुए जिसके हृदयमें तुम स्थान नहीं पाते वह मनुष्य यथार्थमें पाषाण-हृदय है। किन्तु हे करुणासागर

( १ ) शावाभूमी जनयन् देव एक आस्ते विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।

( २ ) तमेवाविदित्वानिऽमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

( श्वेताश्वतरोपनिषद् )

( ३ ) इयं क्षितिः सक्त्तृका कार्यत्वात् घटवत् इत्याद्यनुमानेन ईश्वर सिद्धिरिति गौतमकणाद-सम्मतम् ।

( ४ ) जन्माद्यस्य यतः इति व्यासः ( ब्रह्मसूत्रम् )

जो मनुष्य तुम्हारे प्रतिकूल हैं उनके चित्तको  
भी कृपा करके सन्देहहीन कीजिए और उनकी  
रक्षा कीजिए ” (५) ।

( ५ ) इत्येवं श्रुतिनीतिसंभवजलैर्भूयोभिराक्षालिते ।

येषां नास्यदमादधासि हृदये ते शैलसाराश्रयाः ॥

किन्तु प्रस्तुत—विप्रतीपविश्वयोऽप्युच्चैर्मयचिन्तकाः

काले काराणिक त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः ॥

( कुसुमाञ्जलिः )



# ❀ आत्मतत्त्व-प्रकाश ❀

## पहला अध्याय



जगत् और आत्मा के  
सम्बन्धमें दार्शनिकों  
के तर्क वितर्क

आत्मा क्या पदार्थ है, इस  
प्रश्नकी मीमांसा के लिये जगत्  
के सभी चिन्ताशील पुरुष

बहुत प्राचीनकाल से ही तर्क वितर्क करते आए  
हैं। इस असीम विश्वब्रह्माण्ड के किसी थोड़े  
से स्थान की और अनादि अनन्त काल के थोड़े  
से कालकी-घटनाओं को भौतिक शरीर की  
महायन्ता से अनुभव करके कुछ सज्जन समझते  
हैं कि “हमारी आदि अन्त इसी शरीर तक है,  
इससे पहले भी हम कुछ न थे और इसके बाद  
भी कुछ न रहेंगे। अकस्मात् पैदा होगए और  
अकारण कुछ दुःख भोगकर मरजायँगे।” कोई-  
जगत् के क्षणभंगुरत्वको देख मनमें सोचते हैं

“इस सुहृत्तमें मैं विद्यमान हूँ । दूसरे सुहृत्तमें मैं न रहूँगा । जगत् की प्रत्येक वस्तु ही का प्रथम क्षणमें उदय द्वितीय क्षणमें स्थिति और तृतीय क्षणमें निलय हो जाता है ।” चिरकाल से अनेक स्रज्जन अनेक प्रकार की तर्क करते आए हैं ।

आत्मा क्या है, इसका यथार्थ उत्तर देनेके लिए मनीषियों ने युगयुगान्तर से जगत् की प्रत्येक वस्तु का तन्त्र तन्त्र करके विचार किया है सही किन्तु वे आत्मा के विषयमें किसी अच्छे सिद्धान्त पर नहीं पहुँच सके । कोई २ जगत् की जड़ वस्तुओं से सम्बन्ध त्याग समाधिभग्न होगए पर तो भी आत्मा का ठीक सन्धान न पासके । किसी २ ने विचार किया, कि “जगत् में केवल जड़ पदार्थ की ही सत्ता है—जिसको लोग चैतन्य कहते हैं वह भी जड़ की ही एक विशेष क्रिया है । जड़के सिवा कोई स्वतंत्र चैतन्य पदार्थ नहीं है” ।” दूसरे कहते हैं “केवल चैतन्य पदार्थ ही विद्यमान हैं । घट पट आदि चैतन्य ही के आकार

**विशेष हैं, चैतन्य के सिवा कोई जड़ पदार्थ ही नहीं ।' कोई २ कहते हैं कि जड़ से चैतन्य और**

२-वेदान्त और योगाचार दर्शनकार । योगाचार सम्प्रदायके बौद्ध बाघ जगन् का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि हम जो सब पदार्थों के घट, पट इत्यादि नाम रखते हैं वह शान्ती का विकास है। घट-उत्पत्ति ज्ञानके बाहर घट नामका कोई स्वतंत्र जड़ पदार्थ नहीं है। उनके मतमें क्षणिक ज्ञान-समूह ही आत्मा है। पूर्व २ ज्ञान पर २ ज्ञानमें प्रविष्ट होकर जिस अविच्छिन्न प्रवाह को उत्पन्न करता है वह प्रवाह ही आत्मा या " मैं " है। ज्ञान - समूह को धाराप्रवाह मानने में इस प्रत्यभिज्ञा या पहचान का अभाव नहीं होता कि जो मैं एक क्षण पहले विद्यमान था वही मैं इस क्षण विद्यमान हूँ। जैसे धारावाहिक पानी के कण मिलकर 'नदी' नाम पाते हैं-इन जल कणोंको छोड़कर नदी नामक कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं-वैसेही अविच्छिन्न भावसे संक्रमणशील ज्ञान-समूह ही आत्मा है। इस ज्ञान-समूहको छोड़कर आत्मा नामका कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं। इस मतकी दृष्टान्त स्वरूप एक कथा यथां लिखी जाती है।

सन् ७२ई० में, तिब्बत देश में मिसरक डिउसन् नामक एक राजा राज्य करता था। उसके अष्टपुत्रों को तैरने का बड़ा शौक था। एक बार राज-पुत्र किसी मंत्री के साथ साँपो नदी में तैरने गया। थोड़े पानी में डुबकी मारते ही तरङ्गोंके आघात से भँवर में पड़कर वह डूब गया। जब मंत्रीने राजपुत्र का मृत-देह राजके पास पहुँचाया तब मंत्री और उसके नौकरों को राजा प्राणदण्ड देनेको उद्यत हुआ। मंत्री और उसके नौकरोंने मिलकर प्रार्थना की, कि " हमारा कोई दोष नहीं। नदी ने युवराज को मारा है। यदि आप जल-थल और स्वर्ग के अद्वितीय अधीश्वर हैं तब न्यायद्वारा साँपो नदी ही का दण्ड देना आपका कर्त्तव्य है।" तदनुसार राजाने आज्ञा दी



चैतन्य से जड़की उत्पत्ति नहीं हो सकती । इस लिए जड़ और चैतन्य दोनों की अलग २ सत्ता स्थापनी होगी । जड़ और चैतन्यके योग से ही जीव जगत्की उत्पत्ति हुई (१)। है कुछ कहते हैं कि न जड़ है और न चैतन्य, जगत् शून्य है और संसार अलोक (२) है दार्शनिकों को इस प्रकार

कि जहां राजकुमार डूबा था वहां प्रतिदिन पांचसौ बेत मारे जायें । आज्ञानुसार कार्य किया जाने लगा और नदी को प्रतिदिन पांचसौ बेतों की मार सहना पड़ी । एक दिन नदी की अधिष्ठात्री देवताने अन्याय दण्ड सहने में असमर्थ होकर, मनुष्य देहधारण करके राजा से अपनी दुर्वस्था की कथा कही और जांच के लिए राजा से स्वयं मौके पर जाने की प्रार्थना की । राजा निर्धारित स्थान पर पहुंचा । जहां युवराज डूबा था वहां ब्रह्मा के पुत्र ने एक नाव छोड़ी तब वह अच्छी तरह चलने लगी । अधिष्ठात्री देवताने तब राजा से कहा कि—राजन्, जिस जलने आपके पुत्र की हत्या की थी वह जल बहुत दिन हुए समुद्र में चला गया । आप अन्याय करके निर्दोषियों को दण्ड दे रहे हैं । तब राजाने अपना भ्रम स्वीकार करके पश्चात्ताप किया ।

( १ ) सांख्य, पातञ्जल, न्याय, वैशेषिक और मीमांसा दर्शनों के कर्त्ता ।  
 ( २ ) माध्यमिक दर्शनकार । इस समुदाय के बौद्ध कहते हैं कि शून्य ही जगत्का उपदान है और जगत् शून्य ही में परिणत हो जायगा । हम घट पट और मनुष्य आदि जो कुछ अनुभव कहते हैं वह सब माया है जैसे वाजीगर अपने कौशल के प्रभाव से नानाविध वस्तु दिखाते हैं किन्तु उन सब वस्तुओं की कोई यथार्थ सत्ता नहीं वैसे ही अविद्याच्छन्न होकर हम कर्त्तरह के पदार्थों का अनुभव करते हैं किन्तु यथार्थ में उनमें से किसी का भी अस्तित्व

विरुद्ध भावापन्न विचार तरङ्गों में डूबते उछलते देखकर ही भगवान् ने कहा है। कोई २ तो इस जीवात्मा को आश्चर्य्य मुक्त हो देखते हैं, कोई २ विस्मययुक्त हो वर्णन करते हैं कोई २ आश्चर्य्य युक्त हो सुनते हैं और कुछ सुनकर भी नहीं जानते ( ? ) ।

न्यायदर्शनके मतमें इस प्रस्ताव में न्यायदर्शन के जीवात्मा का स्वरूप मतका अवलम्बन करके हम

जीवात्मा के स्वरूपका निर्देश करेंगे। जीवात्मा अदृष्ट (२) परतंत्र है, शरीरादिका अधिष्ठाता है। (३) इच्छा, प्रयत्न, ज्ञानादिका आशय है; सुख दुःखका भोक्ता है; संसारी (४) विभु (५)

नहीं है। अविद्याका नाशहाने से इन सब वस्तुओंका ध्वंस होजायगा बादको जगत् और "मैं" दोनोंही शून्यता में परिणत होजायेंगे। "मैं शून्यतामात्र हूँ" इसी ज्ञानके उत्पन्न होनेसे निर्वाण मुक्ति होगी ।

( १ ) आश्चर्य्यवत्तन्मयति कथिदेन आश्चर्य्यवद्भवति तथैव चान्यः ।

आश्चर्य्यवत्त्वेनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येन वेद नचैव कथितः॥ (गीता)

( २ ) धर्म और अधर्म को अदृष्ट कहते हैं। जीवात्मा इसी धर्म अधर्मके आधीन होकर यथाक्रम सुख और दुःख भोगा करता है।

( ३ ) जीवात्मा के संयोग से ही शरीर और इन्द्रियादि में चैतन्य उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं ।

( ४ ) एक देहको त्यागकर दूसरे देहको ग्रहण करे वही संसारी है ।

( ५ ) सर्वव्यापी ।

अनेक (१) और नित्य है बुद्धि (२) सुख, दुःख इच्छा, द्वेष, यत्न, भावना, धर्म और अधर्म - ये नौ आत्माके गुण हैं। मुक्तावस्था में आत्मा निर्गुण और निर्विकार होजाता है। देहके साथ सम्बन्ध होनेही से आत्मा में उक्त गुण उत्पन्न हो जाते हैं।

---

( १ ) न्याय के मत में जीवात्मा असंख्य हैं।

( २ ) बुद्धि दो प्रकार की होती है, अनुभूति और स्मृति। संस्कारोत्पन्न ज्ञान का नाम स्मृति है। पहले जिन २ वस्तुओं का अनुभव है वे आत्मा में संस्कार रूपसे रहती हैं और फिर उपयुक्त उद्बोधक सामने आनेपर उन वस्तुओंका स्मरण होजाता है। अनुभूति ४ प्रकार की है। प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शब्द। प्रत्यक्ष ४ प्रकारका है। दर्शन, श्रावण, घ्राणज, रासन, स्पर्शन और मानस। इन्द्रियके साथ विषयका संयोग होनेसे मनः संयोग होनेपर प्रत्यक्ष होता है। जैसे- चक्षुः इन्द्रियके साथ रूपका सन्निकर्ष होनेसे मनः संयोग होनेपर प्रत्यक्ष दर्शन उत्पन्न होता है। इसीतरह कानके साथ शब्दका सन्निकर्ष होनेसे मनका संयोग होनेपर श्रावण प्रत्यक्ष होता है। किन्तु मन यदि त्वक्के साथ संयुक्त न हो तो कोई ज्ञान नहीं होता। सुषुप्ति अवस्था में मन पुरीतत् नामक निस्त्वक नाडीमें रहता है। इसलिए उससमय किसीप्रकार के ज्ञानकी उपलब्धि नहीं होती।

आत्माके अस्तित्व आत्मा अहङ्कार का आश्रय ( १ )

के और केवल मनका गोचर ( २ ) है ।

प्रमाण मैं जानता हूँ, मैं सुखी हूँ इत्यादि

प्रत्यय के द्वारा आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है । रथको चलता देखकर सारथिका होना जैसे अनुमित होना है प्रवृत्ति इत्यादिद्वारा वैसे ही आत्मा का अनुमान होता है । न्याय वैशेषिक आदि शास्त्रों में आत्मा का जो स्वरूप वर्णित है उसका वर्णन मनोयोगसे सुनना और सुन कर उसके विषय में विचार करना चाहिये ।

उसके बाद योगावलम्बन पूर्वक आत्माका स्वरूप देखना उचित ( ३ ) है । आत्मतत्त्वका साक्षात्कार होनेपर यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि आत्मा देह आदि से भिन्न है । ऐसा ज्ञान होनेपर पाप पुण्यसाधिका प्रवृत्तिका नाश और जन्मका उच्छेद होजाता है इसके नाश होने पर बार २ जन्मलेना और मरना बंद होजाता है । जन्म के

१ ग्रहं इस शब्दका विषय अर्थात् निवासस्थान ।

२ चाक्षुष आदि ६ प्रकार के प्रत्यक्षोंमें केवल मानस प्रत्यक्षक द्वारा गोचर होनेवाला ।

३ आत्मा वा अरं दृष्टव्यः भोक्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च इति श्रुतिः ।

अभाव के साथ २ शरीरका अभाव होजातहै और उस ( शरीर ) से उत्पन्न होनेवाले दुःखों का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है इसप्रकार दुःख नाश होनेपर फिर आत्मा को कोई दुःख भोगना नहीं पड़ता और इस आत्यन्तिक दुःखों के नाश को ही मुक्ति कहते हैं ।

## ❀ दूसरा अध्याय ❀

VER + 000 = ER

प्रतिपक्षियों के मतोंका खण्डन और स्वतंत्र जीवान्मा के अस्तित्व का संस्थापन ।

देहात्मवाद  
खण्डन कोई २ कहते हैं चैतन्यका आश्रय

शरीर ही आत्मा है, शरीर ही अहङ्कार का आस्पद है 'मैं गौर हूँ' 'मैं स्थूल हूँ' इत्यादि अनुभव शरीर पर ही आरोपित किए जाते हैं ।

जिनका ऐसा विश्वास है वे नितान्त भूले हुए हैं यदि चेतनता का आश्रय शरीर ही है तो मृत मनुष्य का शरीर क्यों चेतनतायुक्त नहीं है और यदि चैतन्य शरीरका गुण है तो शरीर के अवयवों हस्त पादादि-में भी चैतन्य होना चाहिए । यदि हस्त पादादि को भी चैतन्य का

आधार कहते हो तो प्रश्न यह है कि हाथ, पांव, मस्तक, कान इत्यादि बहुत से अवयवों के बहु चैतन्य का ऐकमत्य कैसे होगा ? बहुत से चेतन पदार्थों की तुल्यानुभूति कभी सम्भव नहीं। मेरी वेदना का अनुभव दूसरे को नहीं होता और दूसरे का तकलीफ से मुझे वेदना नहीं होती। किसी पदार्थ को हाथ से छूने पर वह स्पर्श ज्ञान हाथ का ही होगा और पैर के द्वारा स्पर्श करने से वह ज्ञान पैर ही का होगा, एक का ज्ञान दूसरे को कभी न होगा। मैंने जिस वस्तु को हाथ से छुआ फिर उसी को पैर से छुआ और जाना कि दोनों अंगों से छुई हुई वस्तु एक ही है। ऐसा ऐकमत्य हाथ और पैर में नहीं हो सकता। क्योंकि हाथ कैसे जान सकता है कि पैर ने उसी वस्तु का स्पर्श किया है ? अतएव हाथ पैर के सिवा कोई अन्य वस्तु है। जो हाथ और पांव दोनों अङ्गों द्वारा ज्ञानलब्ध का आश्रय है।

अच्छा अभी सुनिए। यदि आत्मा को भी स्वतंत्र वस्तु नहीं है तो हाथ कट जाने पर उस

के द्वारा अनुभूत वस्तुका स्मरण नहीं हो सकता । जिसने जिस वस्तुका अनुभव किया है वही उस वस्तुको स्मरण कर सकता है । जिसने जिसका अनुभव किया ही नहीं वह उसका कैसे स्मरण करेगा ? हाथने जिस वस्तुका अनुभव किया है हाथके न होने पर उस वस्तु को कौन स्मरण करेगा ? इससे भी यही प्रतिपन्न हुआ कि हाथ पांवसे अलग कोई स्वतंत्र आत्मा विद्यमान है ।

परमाणु चैतन्यवाद यदि कहो, कि शरीरके उपादान में सूक्ष्ममात्राका ज्ञान और शरीर में स्फुट ज्ञान रहने से ऐक्यमतकी अनुपपत्ति होगी तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि वैसा मानने से स्मरणादि ज्ञान अतीन्द्रिय होजायेंगे परमाणु में महत्व न रहने से उसके आश्रित चैतन्य आदिका प्रत्यक्ष नहीं होसकता । और यदि, शरीरके मूल कारण परमाणु में चैतन्य होता तो उसी परमाणु से बने घट आदि में भी चैतन्य रहना चाहिए था । किन्तु घट आदि में चैतन्य नहीं पाया जाता । अतएव परमाणु में चैतन्य नहीं । यदि कहो कि घटादिकमें भी सूक्ष्म-

मात्रामें चैतन्य है तो उत्तर यह है कि घटादिक  
में चैतन्य किसीभी प्रमाण के द्वारा नहीं पाया  
जाता । जो बात किसी तरह प्रमाणित नहीं हो-  
सकती उसको स्वीकार करनेसे शशशृङ्ग और  
आकाशपुष्पकी सत्ता भी स्वीकार करना होगी।  
अतएव नाना अवयवों में नाना चैतन्य कल्पना  
करने की अपेक्षा चैतन्यके आधार एक दूसरे  
द्रव्य (आत्मा) हीकी कल्पना करना ठीक है।

महाभूतों के इकट्ठे होने  
से चैतन्य की  
उत्पत्ति नहीं हो  
सकती

किसी २ का मत है कि माना  
भूत अचेतन हैं किंतु जब वे  
मिलकर देहरूप में परिणत

होने छै तब उनमें चैतन्य उत्पन्न होजाता है ।  
गुड और जौ-इन दोनों में कोई भी मादक  
नहीं किन्तु इन्हीं के मेलसे बनी मदिरा मादक  
होती है वैसेही अचेतन भूतोंसे देहके उत्पन्न  
होनेपर भी उसमें चैतन्य की उत्पत्ति असंभव  
नहीं। (१) जिनका ऐसा मत है उनसे पूछना चाहिये  
कि बाल्य काल में देखी चीजों का स्मरण ज-

१ चतुर्थ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ।

किवादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ॥ (चार्वाक)



बानी में कैसे रहता है? प्रतिदिन देह और का  
 और होरहा है। देहकी आकृति प्रतिक्षण बदलती  
 जाती है। और आकृतिके भेदके द्वारा द्रव्यमें भी  
 भेद होता है। आश्रयका नाश न होनेसे परिमाण  
 का नाश नहीं होता। बाल्यशरीर के परिमाण  
 का नाश होगया तो उस परिमाण के आश्रय  
 बाल्यशरीर का भी नाश होगया यह कहना  
 पड़ेगा। अतएव बाल्यशरीर से हमने जिस  
 वस्तु को देखा है, उसी वस्तुको यौवन-शरीरसे  
 कैसे याद करेंगे जिसने देखा था वह तो नष्ट हो चुका  
 अब कौन उस देखी हुई वस्तुको याद करे? यदि  
 यह कहो कि कारण ने जिस वस्तु का अनुभव  
 किया है कार्य भी, उस वस्तुका स्मरण करेहीगा—  
 अर्थात् पूर्व शरीर में उत्पन्न सभी संस्कार पर-  
 वर्ती शरीर के संस्कार 'होंगे तो यह भी नहीं  
 कर सकते, क्योंकि यदि ऐसा होता तो माताकी  
 अनुभूत वस्तुओं का स्मरण गर्भस्थ शिशु  
 भी होता। माताने जो चीजें देखी हैं, माताके  
 शरीर से उत्पन्न सन्तान उन सब चीजोंको  
 क्यों नहीं याद करसकता? अतएव भूतसमूह

एकत्र होनेसे चैतन्य की उत्पत्ति होती है, यह कहना असंगत है ।

यदि शरीर चेतन होता तब बालककी प्रथम प्रवृत्ति असम्भव होजाती । इच्छाके बिना प्रवृत्ति होनहीं सकती। और “यह वस्तु मुझे प्रिय है” “यह वस्तु अप्रिय है” इत्यादि ज्ञान के बिना इच्छा उत्पन्न नहीं होती । बालकको इस जन्ममें इष्टानिष्ट का कुछ भी ज्ञान नहीं हुआ । फिर उसको इच्छा कैसे उत्पन्न हुई ? पहले जन्ममें उसने अनुभूत किया यह बात भी नहीं कही जासकती, क्योंकि पहला शरीर तो भस्मसात् होगया । जो लोग, देहसे भिन्न आत्मा को मानते हैं वही यह कह सकते हैं कि जन्मान्तर में अनुभूत इष्ट और अनिष्टका स्मरण बालक को होता है और उसीके अनुसार उसमें प्रवृत्ति उत्पन्न होती है ।

कृत प्रणय और

अकृतान्यागम

दोष

शरीर से अलग आत्मा न मानने से शरीर के नष्ट होने पर शरीर से की हिंसा आदिका फल नहीं भोग

गया, अतएव यह कृतहानि और अकृता गम दोष हुआ। शरीर से हमने जो अच्छे बुरे कर्म किए शरीर के नाश होने पर उन फलभोग कौन करेगा ? यह हुआ दुःख दोष। पूर्व जन्म में कोई अच्छा या बुरा क किया नहीं किन्तु शरीर धारण करते ही दुःख का अनुभव कर रहे हैं, यह हुआ अकृताभ्यागम दोष।

‘मैं गोरा हूँ’ या ‘मैं मोटा हूँ’ यदि यह अनुभव ही देहात्मवाद का प्रमाण है तब “मेरा शरीर” “मेरी आँख” आदिका अनुभव देहसे भिन्न, आत्माका प्रमाण क्यों नहीं ? श्रुतिमें भी लिखा है कि “आत्माको रथी जानो और शरीर को रथ।” इत्यादि वाक्यों में देहसे भिन्न आत्मा का विषय कीर्तित हुआ है।

वास्तव में देह आत्मा नहीं, निर्बोधजीव मोहान्धकार में आच्छन्न हो भौतिक देहमें ही आत्मबुद्धि स्थापित करलेता है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी जब आत्मा से पृथक् रूपमें

अवस्थान करते हैं तब क्या कोई बुद्धिमान् व्यक्ति इस पञ्चभूतात्मक कलेवर को आत्मा कहकर भावना कर सकता है?

प्राणान्मवाद किसी के मत में प्राण ही आत्मा है खगडन यह नहीं हो सकता, ऐसा मानने से स्मरण आदि असम्भव होजायगा। प्राण वायु प्रति मुहूर्त्त में बदलती रहती है। इस मुहूर्त्त में जो प्राणवायु हमारे शरीर में मौजूद है अगले मुहूर्त्त में वह नहीं रहेगी इस समय जिसने अनुभव किया दूसरे मुहूर्त्त में वह रहा नहीं अतएव स्मरण कौन करे? हम पिछली घटनाएं स्मरण करते हैं। प्रश्नोपनिषद् में भी लिखा है, कि आत्मा प्राण से भिन्न है “जिस प्रकार पुरुषसे छाया उत्पन्न होती है उसी प्रकार आत्मा से प्राण उत्पन्न हुआ है। मनके संकल्प मात्र से ही प्राण इस शरीर में आया करता है”।”

न्यायदर्शन के मत में आँख, नाक, कान,

(१) आत्मन एव प्राणो जायते, यथैवा पुरुषे द्वायैतस्मिन् एतदाततम् । मनः कृतेनायात्यस्मिन् शरीरे । ( प्रश्नोपनिषद् )

जीभ और त्वक् ये ५ बाह्येन्द्रिय हैं, इन भीतरी इन्द्रिय है। ये इन्द्रियां, बिना मन की सहायता के दर्शन आदि ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकतीं किन्तु मन, स्वयं स्मरण आदि ज्ञान उत्पन्न कर सकता है। इन छः इन्द्रियों के हलावा एक और चीज मानी गई है और वह जीवात्मा है। आत्मा का अस्तित्व न माननेसे ये छहों इन्द्रियां दर्शन, स्पर्शन और स्मरण आदि का व्यापारनिष्पन्न नहीं कर सकतीं।

जीवात्मा इन्द्रियोंसे इन्द्रियाँ आत्मा नहीं। चक्षु आदि  
 भिन्न है इन्द्रियाँ ही दर्शनादि क्रिया की  
 कर्त्ता हैं और इनमें चैतन्य विद्यमान है- ऐसा  
 मानना असङ्गत है। इसलिए कि यदि कोई  
 इन्द्रिय नष्ट होजाय तब उस इन्द्रिय से उत्पन्न  
 हुआ स्मरण आदि कभी नहीं होना चाहिए।  
 किसी मनुष्य ने कोई चीज देखी और कुछ  
 समय के बाद उसकी आँख जाती रही किन्तु  
 फिर भी वह उसका स्मरण कर सकता है।  
 जो अनुभव करता है वही स्मरण करसकता है  
 अनुभविता आँख में नहीं थी। इससे माळूम

छोता है कि इन इन्द्रियों से भिन्न एक आत्मा है जो इन इन्द्रियों की सहायता से पदार्थ-दर्शन करता है और ( इन्द्रियों के नाश होजाने पर भी ) उसको स्मरण रखता है ।

दर्शन स्पर्शन आदि का एकार्थ में प्रतिपादन करना आत्मा का कार्य है । किसी मनुष्य ने आँख से एक चीज़ देखी और उसी चीज़ को हाथ से छुआ और जाना कि दृष्ट और स्पृष्ट वस्तु एक ही है । हमने आँख से घड़े को देखा और हाथ से उसको छुआ, और जाना कि दृष्ट और स्पृष्ट वस्तु एक ही है । जिसको देखा उसीको छुआ—ऐसी प्रत्यभिज्ञा उस समय तक नहीं हो सकती कि जब तक द्रष्टा और स्पृष्टा एक ही न हो । आँख का विषय रूप और त्वक् का विषय स्पर्श है । आँख किसी चीज़ को छु नहीं सकती और त्वचा किसी चीज़ को देख नहीं सकती । मैंने ही किसी चीज़ को देखा और मैंने ही उसको छुआ ऐसी प्रत्यभिज्ञा ( निश्चय ) आँख या त्वक् इन्द्रिय को नहीं हो सकती सुतरां आँख और त्वक् इन्द्रिय से परे

एक कर्त्ता अवश्य है जो आँख से देखता और त्वचा से छूता है। और वही यह समझ सकता है कि दृष्ट और स्पृष्ट वस्तु एकही है। दर्शन और स्पर्शन का कर्त्ता ही आत्मा है।

मनश्चेतन्यवाद कोई कहते हैं कि “वह कर्त्ता, मन ही खगडन है। मन ही आत्मा है, उसको छोड़कर आत्मा नाम का और कोई पदार्थ नहीं। मन ही आँख द्वारा देखता है, कान से सुनता है, हाथ से छूता है और नाक से सूँघता है। मन ही सब तरह के ज्ञान का आश्रय है। मनने आँख से जिस पदार्थ को देखा, हाथ से उसी को छुआ और दृष्ट और स्पृष्ट पदार्थ को एक ही जाना। बुद्धि सुख दुःख आदि जितने गुण आत्मा के बताए जाते हैं वे वास्तव में मन के ही गुण हैं।” जो मनको ही आत्मा समझते हैं उनको एक और अन्तरिन्द्रिय मानना पड़ेगी। आँख से रूप का, कान से शब्द का, नाक से गन्ध का, जीभ से रस का और त्वग्निन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान होता है। किन्तु सुख दुःख आदि का ज्ञान किस इन्द्रिय से

होगा ? सुख दुःखादि, न आंख से दीख पड़ते हैं न कान से सुनाई देते हैं और अन्य तीनों इन्द्रियों से भी उनका ज्ञान नहीं होता । इस लिए सुख दुःखादि के अनुभव के लिए एक और अन्तरिन्द्रिय मानना पड़ेगी ! वही अन्तरिन्द्रिय मन है और जो इस अन्तरिन्द्रिय के द्वारा सुख दुःख आदि का अनुभव करता है वही आत्मा है ।

अत एव जीवात्मा और मन दोनोंका अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा । यह कहना नितान्त अयौक्तिक है कि मनही स्वयं सुख दुःखादि का अनुभव करलेता है और उसके लिए किसी इन्द्रिय विशेष की आवश्यकता नहीं । बिना इन्द्रिय की सहायता के, किसी प्रकार का अनित्य ज्ञान उत्पन्न नहीं होसकता । संसार में दर्शन स्पर्शन आदि जितने प्रकारके ज्ञान उत्पन्न होते हैं वे सब के सब अनित्य हैं । इसलिए उनके लिए १-१ इन्द्रिय की सहायता अवश्य दूरकार होगी । यदि ये ज्ञान नित्य होते तब उनका नाश नहीं होसकता था, तब न इन्द्रियोंकी आवश्यकता



थी और न उनके अभाव से कोई हानि थी। इसलिए, सुख दुःखादि के अनुभव करने के लिए भी एक अन्तरिन्द्रिय की आवश्यकता है। कर्त्ता, अन्तरिन्द्रिय की सहायता से सुख और दुःख का अनुभव करता है। हम, कर्त्ता को आत्मा और अन्तरिन्द्रिय को मन नाम से पुकारते हैं। प्रतिपक्षी, आत्मा को, मन और अन्तरिन्द्रिय को किसी अन्य नाम से पुकारेंगे। फलतः दोनों पक्षवाले, ५ बाह्येन्द्रिय ? अन्तरिन्द्रिय और १ स्वतंत्र कर्त्ता का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। प्रकृत विषय में हमारा उनका कोई भेद नहीं, भेद है सिर्फ पदार्थों के नाम करण में। यदि कहो कि विषयों के साक्षात्कार के लिए इन्द्रियों की सहकारिता की आवश्यकता नहीं तब अंधेरी रूप दर्शन करेंगे और बहरे बात सुनेंगे। बात यह है कि एक २ विषय के लिए एक २

---

१-सुखसाक्षात्कार: "सकरणकोजन्यसाक्षात्कारत्वाच्चाक्षुषवत्" जन्य साक्षात्कार के लिए इन्द्रिय की सहायता की आवश्यकता है। सुख साक्षात्कारजन्यसाक्षात्कार, सुतरां सुखसाक्षात्कार के लिए इन्द्रिय विशेष की आवश्यकता है, जिस तरह दर्शन साक्षात्कार के लिए आंख की सहकारिता की।

इन्द्रिय की सहकारिता स्वीकार करना

तब, सुख दुःखादि के साक्षात्कार के लिए जिस इन्द्रिय की आवश्यकता है उसका क्या नाम है, और जो सुख दुःख अनुभव करता है उसका क्या नाम है ? इसके उत्तरमें 'मन' और 'आत्मा' ही कहना होगा । जो कहो कि सुख दुःखादि के साक्षात्कार के लिए तो हम एक अन्तरिन्द्रिय स्वीकार किए लेते हैं किन्तु वही कर्त्ता है, उस से भिन्न कोई कर्त्ता स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं समझते। यह बात भी ठीक नहीं । बात यह है कि बिना कर्त्ता के कारण कोई किया सम्पादन नहीं कर सकता। छुरा कितना ही तेज क्यों न हो जब तक किसी के द्वारा चलाया नहीं जायगा किसीको काट नहीं सकता। इसी तरह जीवात्मा के द्वारा चलाए जाने पर मन किसी विषयको ग्रहण कर सकता है। इन युक्तियों द्वारा सिद्ध हुआ कि मन को चलाने वाले की सत्ता स्वीकार करना पड़ेगी। इस अन्तरिन्द्रिय के प्रयोक्ता को ही आत्मा कहते हैं।

( १ ) इन्द्रियं कर्तृप्रयोज्यं करणत्वान् वास्यादिवत् ।

मन, दर्शन श्रवणादि का  
कर्त्ता और करण दोनों  
नहीं होसकता

ऊपर लिखी युक्तियों द्वारा  
सिद्ध हो चुका है कि न केवल  
कर्त्ता ही विषय का साक्षात्कार

कर सकता है और न करण ही । कर्त्ता और  
करण दोनों मिलकर ही विषय का साक्षात्कार  
करते हैं । कर्त्ता आत्मा है और आँखसे लेकर  
मन पर्यन्त छह इन्द्रियां उसके करण हैं ।  
यदि कहो कि मन ही कर्त्ता है और मन ही  
करण है वही सुख दुःखादि का ज्ञान और  
अनुभव करता है तब उसके उत्तर में निवेदन  
है कि कर्त्तृत्व और करणत्व परस्पर विरोधी  
होने के कारण एक ही पदार्थ में न्यस्त नहीं  
होसकते । यदि होसकते हैं तब बताना चाहिए  
जो मन एक पक्ष में कर्त्ता है और दूसरे पक्षमें  
करण है वह अणुमहत् है वा परममहत् है ?  
यदि मन महत् वा परम महत् होता तब वह  
एक ही समय देख भी सकता और सुन भी  
सकता । क्योंकि जिस समय मन चक्षुरिन्द्रिय के  
साथ मिलकर दर्शन-ज्ञान प्राप्त कर रहा था उसी  
समय वह कर्णेन्द्रिय के साथ मिला हुआ श्रवण

ज्ञान भी उत्पन्न कर सकता होता। किन्तु सब जानते हैं कि एक समय में दो ज्ञान-सुनना और देखना-नहीं प्राप्त होसकते हैं अतएव मन महत् वा परम महत् नहीं ।

यदि कहो, कि कर्त्ता और करणस्वरूप मन अणु है तब वह महत्वहीन होने के कारण सुखादि का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कर सकता । आश्रित प्रत्यक्षके लिए आश्रय का महत्व ही कारण है । जिसतरह परमाणु में महत्व के न होनेसे तद्गुण परिणाम आदिका प्रत्यक्ष नहीं होसकता । किन्तु ज्ञान सुख आदि का मानस प्रत्यक्ष हुआ ही करता है अन्यथा कोई ज्ञान और सुखको अनुभव ही नहीं करसकता । इस लिए जिस मनको तुम कर्त्ता और करण दोनों मानते हो वह न तो अणुमहत् है और न परममहत् । न अणुमहत् हो न परम महत् हो ऐसी कोई वस्तु संसार में नहीं । इसलिए मन कर्त्ता और करण दोनों नहीं बनसकता ।

मन कर्त्ता और करण नहीं बनसकता-इस

प्रतिज्ञाको अब हम नीचे तर्कशास्त्रोचित भाषामें विश्लेषण करने की चेष्टा करते हैं ।

कर्त्ता, करण की सहायता से विषयोंको प्रत्यक्ष करता है; मन, मनकी सहायता से ही ज्ञान सुख आदिको प्रत्यक्ष करता है क्योंकि वही कर्त्ता है और वही करण है । ऐसा मन, महत् परममहत् वा अणु इनमें से कोई एक होगा । हम कहते हैं इनमें से वह कोई एक भी नहीं हो सकता । देखिए—

( १ ) “ अणुमन, अणुमन की सहायता से सुखादिको प्रत्यक्ष करता है। ” यह बात सरासर गलत । जब मन अणु हुआ, तब उसको आश्रित ज्ञान सुखादिका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता ।

( २ ) “ महत् मन, महत् मन की सहायता से ज्ञान सुख आदि को प्रत्यक्ष करता है । ” यह प्रतिज्ञा भी भ्रमात्मिका है । क्योंकि जिस वस्तु की सहायता से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह प्रकृष्ट प्रमाण विशिष्ट होने से एक ही समय आँख कान में व्यावृत्त रहनेके कारण एक साथ दोनों ज्ञान उत्पन्न कराती है ।

( ३ ) महत् मन अणुमनकी सहायता से ज्ञान सुख आदि को प्रत्यक्ष करता है । वेशक, इस प्रतिज्ञा में कोई दोष नहीं । अणु मन की सहायता से ज्ञान सुख आदि का प्रत्यक्ष तो होगा परन्तु दर्शन और श्रवण दोनों एक साथ नहीं होंगे । और ज्ञान सुख आदि प्रत्यक्ष का जो आश्रय है वह अणु नहीं महत् है इसी-लिए प्रत्यक्ष सम्भव है । अर्थात् आश्रय के महत्त्व के कारण ज्ञान सुख आदि के प्रत्यक्ष में कोई प्रतिबन्धक नहीं ।

इस महत् मन को ही आत्मा और अणु-मन को ही मन कहते हैं । इस लिये आत्मा मनकी सहायता से ही ज्ञान सुखादि को प्रत्यक्ष करता है—यही सिद्धान्त स्थिर रहा “जो कहो कि आत्मा महान् है तो उस से श्रवण और दर्शन एक ही साथ उत्पन्न होना चाहिए ।” यह बात नहीं । जिस मनकी सहायता से वह प्रत्यक्ष करता है वह तो अणु है यद्यपि आत्मा में, महत् होने के कारण दर्शन और श्रवण

दोनोंको एक ही समय में प्रत्यक्ष करने की शक्ति है किन्तु उसका करण मन अणु है इसलिए वह वैसा कर नहीं सकता ।

न्याय के मतमें और भी एक बात । यदि अणु मन जीवात्मा ही आत्मा होता, तब एकही समय में सारे अङ्गोंमें चैतन्य नहीं रह सकता था । अणुमन जिस समय हाथमें होता तब पैरमें नहीं हो सकता था, जिस समय मस्तकमें होता उस समय हाथमें हो नहीं सकता था । एक अङ्ग चेतन रहता बाकी अचेतन । न एक साथ कई अङ्गोंमें वेदना प्रतीत हो सकती थी । इस लिए अणुमन आत्मा नहीं । अणुमनही यदि आत्मा होता तब हम चलतक न सकते, क्योंकि चलते समय एक चरण होता चेतन और दूसरा जड़ । आत्माको अणु स्वीकार करने से तत्त्वज्ञानियों का यह सिद्धान्त कि आत्मा एकही समय अनेक शरीरोंमें सुख दुःखादिरूप कर्मफल भोगा करता है—असत्य होजाता । क्योंकि अणु वस्तु एक समय में अनेक शरीरोंमें

रह नहीं सकती। आत्माको विभु मानने में कोई दोषापत्ति नहीं। यदि पूछो कि आत्मा विभु है इसमें प्रमाण क्या ? इसका प्रमाण यही है कि जो वस्तु नित्य और अमूर्त्त ( अपरिमित ) है वही विभु है' । आत्मा इस समय है फिर न होगी, ऐसा कालिक परिच्छेद आत्मा में नहीं है। आत्मा अमूर्त्त है, कोई नहीं कह सकता कि आत्मा दश हाथ चौड़ा २० हाथ लंबा है। उसमें ऐसा दैशिक परिच्छेद भी नहीं, इसी लिए आत्मा विभु या विश्वव्यापक है। "आत्मा अणु से भी अणु है" इस श्रुति वाक्य से कोई आत्मा को अणु प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं लेकिन वे याद रखें कि यह श्रुति मनः संयुक्त आत्मा के लिए है, इसी श्रुति के पहले पदमें लिखा है कि "आत्मा महत् से भी महत् है" वास्तव में यह पद आत्माके विषय में है और पूरी श्रुति मनः संयुक्त आत्मा के लिए है। श्रुति

१ नित्यत्वे सति अमूर्त्तत्वात् । आत्मतत्त्वविवेकः

यद्वा सर्वमूर्त्तसंयोगित्वं विभुत्वम् ( सिद्धान्तमुक्तावली )

२ महतोऽपि महीयांसं अणीयांसमणोरपि । इति श्रुतिः ।



में आत्माके विभुत्वके विरुद्ध कोई बात नहीं मिल-  
ती। श्रुति में लिखा है कि अशरीरी आत्मा  
अनित्य शरीर में अवस्थिति करता है इस-  
लिये वहान् विष्वव्यापक आत्मा को जानकर धीरे  
व्यक्ति शोक नहीं करता।

## ❀ तृतीय अध्याय ❀

आत्मा का नित्यत्व  
और उसका दूसरा  
जन्म

पहले दिखाया जा चुका है कि  
शरीर, मन और इन्द्रिय आदि

सब आत्मा अलग है। आत्मा हर्गिज अनित्य  
नहीं। जितनी अनित्य चीज़ें हैं वे उत्पन्न होती  
और नष्ट होती हैं और उनके पैदा होने और नष्ट  
होनेका कारण भी होता है। आत्मा की उत्पत्ति  
का कारण क्या है? किन उपादानों से आत्मा  
बना है? वे सब उपादान आत्मोत्पत्ति के पहले

१ अशरीरं शरीरेष्वनवसेष्वनवस्थितम् ।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥

( कठोपनिषद् )

कहाँ थे और उसके ध्वंस होने पर कहाँ जायेंगे ? शरीर के साथ आत्माका सम्बन्ध कैसे हुआ ? इत्यादि प्रश्नोंके उत्तरकी आशा अनित्य आत्मा से नहीं कीजासकती । यदि कहो कि शरीर के साथ ही आत्मा की उत्पत्ति हुई है, शरीर के सिवा आत्मा और कुछ भी नहीं तब यह देहात्मवाद होगया । इसका खण्डन पहले ही कर चुके हैं । और जो कहो शरीरोत्पत्ति के साथ आत्मा भी उत्पन्न हुआ है-शरीरका ध्वंस होने पर भी उसका ध्वंस न होगा तब यह बात ठीक नहीं क्योंकि जो चीज़ पैदा होती है वह नष्ट भी होती है । जो चीज़ जन्य(पैदा हुई) है वह नाश होने वाली है । इसलिए शरीर के साथ उत्पन्न हुआ आत्मा हमारे प्रश्नोंकी सीमांसा नहीं करसकता । यदि कहिए आत्मा अनादि है किन्तु अमृत नहीं, आत्मा मदा विद्यमान रहता है और कुछ काल तक देह के साथ सम्बन्ध स्थापन करके ध्वंस हो जाना है तब आपत्ति यह है कि इस आत्म-समूह का इस प्रकार

विनाश होने पर जगत् थोड़ेही दिनोंमें आत्म-  
विहीन हो जायगा । सभी सजीव पदार्थ धीरे-  
नष्ट होजायेंगे । अतएव आत्मा नित्य है यही  
वात मानना पड़ेगी । श्रुति कहती है कि आत्मा  
का जन्म नहीं है, मृत्यु नहीं है, वह उत्पन्न  
नहीं होता, वह अज है; नित्य है; पुराण है,  
शरीर का नाश होने पर भी उसका नाश  
नहीं होता !

जीवात्मा का कर्मबन्धन आत्मा अनन्त कालसे विद्य-  
मन और उसकी ऊर्ध्व मान है और वह संसारचक्र  
एवं अधोगति में पड़कर सैकड़ों बार जन्म  
ग्रहण कर चुका है और जब तक उसका मोक्ष  
होगा उस समय तक न मातृम कितनी बार  
और जन्म ग्रहण करेगा । सूत ( डोरे ) में गुथे  
फूल जिसतरह एक २ करके गिरजाते हैं पर  
सूत ज्यों का त्यों रहता है आत्मा भी देहरूपी  
फूलों के गिरजाने पर वैसा ही रहना है ।

१ न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ (कठ)

संसार में कोई शक्ति नहीं जो आत्मा का नाश कर सके। मुक्तिके बाद भी उसका नाश नहीं होता बल्कि वह उस समय अपने स्वरूप में अवस्थान करता है। कुम्हार का चक्र जिसप्रकार अन्तर्गत शक्ति के द्वारा बराबर घूमता रहता है यह संसारचक्र भी उसीप्रकार कर्मफलरूप अन्तर्निहित शक्तिके प्रभाव से अनवरत घूमता रहता है। कांचकी शीशी में कुछ भौंरे बन्द करने पर जिसप्रकार उनमें से कुछ ऊपर कुछ नीचे और कुछ बीच में रुक जाते हैं, उसके बाहर कोई निकल नहीं सकता उसीप्रकार जीव भी शुभाशुभ कर्मद्वारा संसारचक्र में बँधकर कोई सुरलोक, कोई नरलोक और कोई तिर्ग्यग्योनिको प्राप्त होते हैं, उससे परित्राण नहीं पासकते। ये संस्मरणशील जीव माता, पिता, भाई, बहन, स्त्री, पुत्र और कन्या आदि के संबंध में बँधकर हमेशा घूमते रहते हैं। यह बात कोई नहीं कह सकता कि यही माता पिता सदासे हमारे माता पिता

होते आए हैं । भविष्यत् में भी यही माता पिता रहेंगे । और जीवों के साथ हमारा यह सम्बन्ध जुड़ा ही नहीं । एक साधारण जीव भी करोड़ों जन्म में दूसरे उन्नत जीवों का माता पिता होमकता है, कहने का मतलब यही है, कि वर्त्तमान जन्मका सम्बन्ध ही चरम सम्बन्ध नहीं है ।

पूर्वजन्म और कोई २ जन्मान्तर को नहीं मानते, परजन्म किन्तु यह सब देखते हैं कि दैनिक परमाणुसमूह प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं ।

१ शत्रुमित्रकलत्राणां वियोगः संगमस्तथा ।  
मातरो विविधा दृष्टाः पितरो विविधास्तथा ॥  
अनुभूतानि सोख्यानि दुःखानि च सहस्रशः ।  
वान्धवा बहवः प्राप्ताः पितरस्तु पृथग्विधाः ॥  
भृत्यतां दासतां चैव गतोऽस्मि बहुशो नृणाम् ।  
स्वामित्वमीश्वरत्वं च दरिद्रत्वं तथागतः ॥  
पितृमातृसुहृद्भ्रातृकलत्रादिकृतेन च ।  
तुष्टः सकृत्तथा दैन्यमश्रुधौताननो गतः ॥  
एवं संसारचक्रेऽस्मिन् भ्रमन्ता तात सङ्कटे ।  
ज्ञानमेतन्मया प्राप्तं मोक्षसंप्राप्तिकारकम् ॥

शैशवं यौवन वार्धक्य आता रहता है ।  
 वैज्ञानिक पण्डितों ने निश्चय किया है कि प्रति  
 सातवर्ष में देहके अवयव बिल्कुल ही नये हो  
 जाते हैं । सातवर्ष के भीतर प्रत्येक परमाणु की  
 विच्युति होकर देहावयव में नया परमाणु  
 उत्पन्न होजाता है और देहधारी व्यक्ति का  
 व्यक्तित्व लोप नहीं होता । जब देह के ऐसे  
 सौ परिवर्त्तनों पर भी जीवका आत्मत्व नष्ट  
 नहीं होता तब मृत्युरूप दैहिक परिवर्त्तन होने  
 पर आत्मा का अत्यन्त ध्वंस किसतरह होगा ।  
 मैं सातवर्ष पहले जैसा था, अब भी वैसा ही  
 हूँ, तोभी शरीर और मनका कितना परिवर्त्तन  
 होगया है । अतएव देखा जाता है कि इस  
 जन्म में शारीरिक और मानसिक सैकड़ों परि-  
 वर्त्तन होनेपरभी मेरा “मैं” पना लुप्त नहीं होता ।  
 इस दशामें मृत्युरूप शारीरिक परिवर्त्तन ही  
 में “मैं” पने का नितान्त नाश किसतरह सम्भव  
 होगा ? मृत्यु शब्दका अर्थ आत्माका ध्वंस नहीं,  
 देहके साथ आत्मा का विच्छेदमात्र है । एक

देहके साथ सम्बन्ध टूटते ही दूसरे देहके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है।

गोतमका गौतम कहते हैं जन्म से ही शिशुको मत स्तनपान की प्रवृत्ति होती है। पहले के अभ्यास के बिना प्रवृत्ति नहीं जन्मती। और अभ्यास, बिना पूर्वशरीर हुए-नहीं होसकता। इसलिए पूर्वजन्म और पूर्वशरीर सिद्ध हुआ। देखा जाता है कि जीव भूखा होनेसे खानेकी अभिलाषा करता है। आहारद्वारा क्षुधाकी निवृत्ति पहले होचुकी है-इससे वह जानता है कि आहार ही क्षुधानिवृत्ति का उपाय है। इस पूर्वाभ्यास की याद होनेसे उसे उक्त प्रकार की अभिलाषा होती है। इस जन्ममें तो उसने कभी जानाही नहीं कि आहार ही क्षुधानिवृत्ति का उपाय है। तब फिर क्यों उसको आहार की अभिलाषा हुई? यही मानना पड़ेगा कि फौरन पैदा हुआ बच्चा भूखा होनेपर पूर्वाभ्यासका स्मरण करके आहार की अभिलाषा करता है। और उसकी स्तनपान की ओर प्रवृत्ति होती है।

यदि कहिए कि लोहा जैसे बिना अभ्यासके भी चुम्बक की ओर खिंचता है वैसेही बालक भी पूर्वाभ्यास के बिनाही स्तनपानकी अभिलाषा करता है । इसके उत्तरमें केवल इतनाही निवेदन है कि बच्चा माताके दूधको प्रवृत्तिपूर्वक पान करता है किन्तु लोहेका खिंचना प्रवृत्तिसे नहीं होता । लोहा चाहै जब हो चुम्बकके पास आते ही उसकी ओर दौड़ता है । इसमें लोहेकी इच्छा या अनिच्छाका कोई प्रश्नही नहीं, किन्तु बालक बिना भूखा हुए स्तनपानकी अभिलाषा नहीं करता यह प्रवृत्तिपूर्वक क्रिया पूर्वाभ्यास आहार के स्मरण के बिना और किसी तरह उत्पन्न नहीं हो सकती ।

न्यायदर्शनकार का यह भी मत है कि वीतराग होने पर फिर जन्म नहीं होता । माता के गर्भ से पृथ्वी पर गिरते ही शिशु राग, द्वेष आदि का चिह्न-प्रकाशन करता है । पूर्वानुभूत विषयोंका चिन्तन ही राग द्वेष का कारण है । पूर्वजन्म में किये विषय के अनुभव के



बिना इस जन्म में भूमिष्ठ होते ही राग द्वेष आदि के चिह्न नहीं प्रकट होसकते ।

यदि कहिए कि गुण समन्वित होकर ही द्रव्य उत्पन्न होता है, निर्गुण द्रव्य की उत्पत्ति हो नहीं सकती अतएव राग द्वेष आदि गुणों के साथ ही आत्मा की उत्पत्ति होसकती है तो यह आपत्ति है कि संकल्प विकल्प द्वारा राग द्वेषादि की उत्पत्ति होजाती है किन्तु जड़ पदार्थ के गुण संकल्प विकल्प द्वारा उत्पन्न नहीं होते । विषयों के स्वेनके बिना संकल्प विकल्पका उद्भव नहीं होता । अतएव उत्पन्न हुए बालक के राग द्वेष आदि को देखकर पूर्वजन्मालुभूत विषयों का अनुमान करना पड़ता है ।

प्राचीन न्याय की नैयायिकों की युक्तियों का मम्मार्थ युक्तियों का यही है कि जीव में जन्म से सृष्ट्यु मम्मार्थ पर्यन्त जो राग, द्वेष आदि प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं वे सब पूर्वजन्मके संस्कारके कारण ही होती हैं । इस जन्ममें वे केवल उद्बोधित होजाती हैं ।

पूर्वजन्मका प्रमाण स्मृति से पूर्वजन्म का प्रमाण

स्मृति ही है मिलता है । कोईर कह सकते हैं

कि स्मरण को ही प्रामाण्य समझकर पूर्वजन्म को  
मानना ठीक नहीं; उसके लिए किसी विशेष  
प्रमाण की आवश्यकता है । इसके उत्तर में  
हमारा इतना ही निवेदन है, कि अतीत घटनाओं  
की स्मृतिको छोड़ कर और किस के द्वारा  
( पूर्व जन्मको ) प्रमाणित किया जाय ? आँख,  
नाक, कान, जिह्वा और त्वचा-इन पञ्च ज्ञानेन्द्रिय  
द्वारा जो प्रत्यक्ष प्रमाण होता है वह वर्त्तमान  
कालसे सम्बन्ध रखता है; अतीत और अनागत  
विषय आँखसे देखा नहीं जा सकता, कान द्वारा  
सुना जा नहीं सकता एवं किसी दूसरी इन्द्रिय  
से अनुभव किया जा नहीं सकता । मैं कहता  
हूँ, कि मैं कल विद्यालय गया था । इस वाक्यका  
प्रामाण्य कहाँ है ? आँख में या स्मृति में ? कहना ही  
होगा कि स्मृति ही अतीत घटनाओंका प्रमाण  
है । यदि मैं इस घटनाको स्मरण न कर सकता  
तो क्या आँख द्वारा विद्यालय का जाना प्रत्यक्ष

करके उसके सत्यासत्य का निर्णय कर सकता था । स्मृति को छोड़ कर अतीत घटनाओं का यदि कोई और भी प्रमाण होता तब दुष्यन्तको शकुन्तला के प्रत्याख्यान से पैदा हुए अनुतापको भोगना न पड़ता । इसलिए यह बात सिद्ध हुई कि स्मृति ही अतीत घटनाओं का प्रमाण है । नैयायिकोंने पूर्वजन्मसे सम्बन्ध रखनेवाले जिन प्रमाणोंको प्रदर्शित किया है वे भी सब स्मृति-मूलक हैं ।

पूर्वजन्मकी स्मृति को अस्वीकार करनेका भी कोई कारण दिखाई नहीं देता । जो हिंदी-भाषा नहीं जानते जिन्होंने कभी हिंदी की वर्णमाला नहीं देखी उनके पास यदि कोई हिंदी-भाषा की पुस्तक लेजाय तब क्या वे उसका भाव ग्रहण करसकेंगे ? हिंदीभाषा जाननेवाले के पास यदि उस पुस्तक को लेजाय तब वह तत्काल उसका भाव ग्रहण करलेगा । “आत्माका ध्वंस नहीं” इन अक्षरों को देखकर पहला तो कुछ समझता नहीं । किन्तु दूसरे की दृष्टि पड़ते

ही “ आत्मा ” एक अर्थ प्रकाश करता है ध्वंस दूसरा । इसीप्रकार वह पूरे वाक्य का अर्थ समझजाता है । क्योंकि वह पहले से ही इन शब्दों का अर्थ जानता था अब उनको देख कर उनके अर्थका स्मरण होआया । पहला मनुष्य इन शब्दोंका अर्थ भी नहीं जानता था और अक्षरों को भी नहीं यहचानता था इसीलिए अक्षरों को देखकर उसके मनमें किसी अर्थ की उपलब्धि नहीं हुई । अब यह बताइए-वच्चा पैदा होते ही विशालविश्व संसार की ओर दृष्टि-पात करता है, उसको देखकर उसके मनमें किनना ज्ञान, हर्ष और भय उत्पन्न होता है । इस शिशुके अन्दर यदि आकृति और रूप आदिका ज्ञान नहीं होता तब जगत्को देखकर उसके मनमें किसी अर्थकी उपलब्धि नहीं होती और उसके मनमें हर्ष भय आदि वृत्तियोंका उद्रेक नहीं होता । इसलिए मानना पड़ेगा कि रूप और आकृतिका ज्ञान इसको पहले से था, जगत् को देखकर उनका स्मरण हो आया । पहले से ज्ञान था यह बात मानते ही पूर्वजन्म भी मानना पड़ेगा ।

सादृश्य प्रत्यक्ष द्वारा  
 पूर्वानुभूतिका  
 स्मरण

बालक जब मातृभाषा पढ़ना  
 आरम्भ करते हैं उस समय  
 पूर्वपरिचित आकृति और  
 शब्दों के साथ मातृभाषाकी वणमाला और  
 शब्दों का सादृश्य करते हैं। इस सादृश्य ज्ञान  
 से ही अक्षरज्ञान होता है। किसी वस्तु का  
 ज्ञान क्यों न हो पहले उसके समान वस्तु के  
 साथ बिना परिचय हुए उसका ज्ञान नहीं  
 होता। अब यह बताइए, शिशु जिस समय  
 सबसे पहले आकार, रूप, रस आदि जानता है  
 उस समय वह किस वस्तु के आकारके साथ  
 उनका मिलान करता है? किस वस्तुके रूप की  
 समान उनका रूप देखता है? वच्चा ज़रूर इस  
 संसार में आनेसे पहले अपने साथ कुछ  
 संस्कार लाया है जिनके सहारे वह पार्थिव  
 विषयों को पहचानता है। वच्चे के पहले जन्म  
 में जो आँख कान थे वे इस समय नहीं हैं। जो  
 शरीर था वह भी इस समय नहीं है। जो कुछ  
 है नूतन है। एक स्मृति ही है जिसके सहारे वह

इन चीजों को देखकर पहचानता है । इस संसारकी किसी वस्तु की समान वस्तु पहले कभी देखी थी या नहीं यह बात उसको मालूम होती है । वह देखता है कि पहली देखी रूप रस आदि वस्तुओं की सदृश वस्तु इस संसार में बहुत है । इसी तरह इस जगत् में उसको धीरे २ रूप रस आदि का ज्ञान होजाना है । सामान्यविशेष क्रमसे सूक्ष्म ज्ञान भी होने लगता है । क्रमसे वह पहले संसारका ज्ञान छोड़ कर इसी संसार के ज्ञानमें सुग्ध होजाता है, पहल संसार की ममता छोड़कर इसी संसार में अत्यन्त आसक्त होजाता है । फिर वह अपने स्वरूपको भी भूल जाता है देहको ही आत्मा समझने लगता है । फिर वह पिछली बातोंको याद तक करना छोड़ देता है, जिन आदशों के सहारे इस संसार की वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त किया है उनको स्मरण तक नहीं करता वही तो घोर मोह है । शास्त्रकारोंने देहात्मवाद की बार २ निन्दा की है । देह के

साथ सम्बन्ध होने पर आत्मा को यह सोह  
अवश्य ही होता है । वर्तमान जगत् का ज्ञान-  
समूह पूर्वजन्म के ज्ञानको ढक लेता है । फिर  
भला पिछले जन्मकी बात किस प्रकार याद  
आसकती है ? बाल्यकालमें जब पृथ्वीका ज्ञान  
नहीं हुआ था उस समय पूर्वज्ञान ( संस्कार  
रूपमें ) सम्पूर्ण रूपमें था; इस संसारके ज्ञान  
की वृद्धि के साथ २ अतीत जन्म के ज्ञान का  
ह्रास होने लगा । पहले जन्मों का ज्ञान नष्ट  
होगया—यह बात नहीं बल्कि इस जन्मके ज्ञान  
के साथ वह इस तरह मिलगया कि उसको  
अलग कर देना अब नितान्त सुदिकल होगया है ।

जन्मान्तरके अस्तित्व पूर्वजन्म के न मानने से सुख

में नव्यन्याय की दुःखों के वैषम्यका कारण क्या

युक्ति होगी ? संसार में कोई सुखी

है, कोई दुखी है, कोई धनी है, कोई दरिद्र है यह

१ सापेक्षत्वात् अनादित्वात् वैचित्र्यात् विश्वव्यत्तितः ।

प्रत्यात्मनियमाद् भुङ्क्ते तत्र हेतुरलौकिकः ॥

(कुसुमाञ्जलिः)

विचित्रता किस कारणसे है? कहना नहीं होगा, कि अदृष्ट ही मनुष्योंके सुख दुःखादि के वैषम्य का कारण है। जीव, अपने किये बुरे भले कर्मों के अनुसार विभिन्न प्रकारके सुख दुःख भोगा करते हैं। यदि पहले जन्मके कर्मों के फलका परिणाम सुख दुःख नहीं तब बालक पैदा होते ही किस कारणसे सुख दुःख भोगता है। इससे मालूम होता है कि बालकने पूर्वजन्म में जो कर्म किए थे उसीके अनुसार वह सुख दुःख भोगता है। अदृष्ट-पूर्व जन्मार्जित कर्म फल-स्वीकार करने ही पूर्वजन्म अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। इस तरह पहले और पिछले-अर्थात् वर्तमान जन्मसे पूर्व भी हम थे और भविष्यत् में भी रहेंगे-जन्म सिद्ध होते हैं।

सुख और दुःख का यदि कहो कि इस विचित्रताका कारण अदृष्ट है कारण ईश्वर ही है, उसीकी इच्छा

से यह विचित्रता हुई है। उसीने अपनी इच्छा से किसी को दुखी किसी को सुखी बनाया है, उसकी इच्छा को कौन बदल सकता था ?



इस के उत्तर में निवेदन है, कि यदि ईश्वर ने ऐसा किया तब वह वैषम्य और नैर्घृण्य दोष का पात्र हुआ। उस (ईश्वर) के अकारण अनुग्रह से कोई सुखी और उस के आकारण कोप से कोई दुखी होगया। इस प्रकार का पक्षपात रखने वाला कभी ईश्वर नहीं हो सकता।

ईश्वर और यदि कहो कि ईश्वर अनन्त शक्ति  
 प्रवृत्त सम्पन्न है और उसकी शक्ति के विभेद के कारण संसार के कार्य में यह वैचित्र्य हुआ है। ईश्वर की विभिन्न शक्ति के अनुसार यदि यह भेद घटा है तब तुम अवश्य शक्ति और शक्तिमान् में भेद धारणते हो। ये शक्तियाँ शक्तिमान् से अलग हैं और ईश्वर इन विभिन्न शक्तियों के द्वारा सुख दुःखादि की व्यवस्था करते हैं इन शक्तियोंका

१ पक्षपातित्व।

२ निर्दयता।

३ एकस्य न क्रमः क्वापि वैचित्र्यञ्च समस्य च।

शक्तिभेदो न चाभिन्नः स्वभावो दुरतिक्रमः ॥

(कुण्डुमाञ्जलिः)

और सुख दुःखादि का तब हुआ हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध । शक्ति या ही सुख दुःखों का कारण है तब शक्तिमान् विल्कुल निरपराध है । कहना इनका ही है कि तुम जिसको शक्ति कहते हो हम उसको अदृष्ट कहते हैं । ईश्वर जीवके अदृष्ट के अनुसार उसके लिए सुखदुःख की व्यवस्था करते हैं । यह सिद्धान्त स्वीकार करने से ईश्वर में कोई दोष नहीं आता और परजन्म सिद्ध होता है । पृथ्वीमें जैसा बीज डालोगे वैसा अङ्कुर निकलेगा इसमें भूमि का कोई दोष नहीं । किन्तु भूमिके बिना अङ्कुर उत्पन्न नहीं हो-सकता । इसी प्रकार ईश्वर कर्म फल के अनु-सार हर एक प्राणीके पुस्कार वा दण्ड विधान करते हैं ऐसा करने से उनमें न तो वैषम्य दोष आता है और न नैर्घृण्य ही ।

ईश्वर जिसके जैसा कर्म होते हैं वैसा उस के लिए विधान करते हैं इसमें ईश्वर का क्या अपराध । पूर्वजन्म-जिजन पाप पुण्य क मानने से उसका साथ ही पूर्वजन्म और परजन्म भी मानना पड़ेगा ।

जो कहो, शक्ति और शक्तिमान् में कोई  
 भेद नहीं एक ईश्वर ही जगत् का कारण है;  
 उसमें स्वभाव से ही इस विचित्र जगत्की  
 उत्पत्ति हुई है। इसका यह उत्तर है कि किसी  
 कार्य के उत्पादन के समय कारण का जो स्व-  
 भाव होता है दूसरे कार्य के उत्पादन के समय  
 भी उसके स्वभाव में कुछ भी परिवर्तन हो  
 नहीं सकता। सुख विधान करते समय ईश्वर  
 का जो स्वभाव था दुःख विधान करते समय  
 उसमें फेरफार क्यों हुआ ? और यदि कहो  
 स्वभाव परिवर्तन होसकता है तब आग पानी  
 होसकती है ।

पूर्वजन्म क कर्म जो कहो कि ईश्वर जीव के पाप  
 स्वीकार करने में पुण्य के अनुसार दण्ड और  
 मुक्ति पुरस्कार विधान करते हैं सही,  
 किन्तु वे पाप पुण्य पूर्वजन्माजिजन नहीं बल्कि  
 इसी जन्मके किए हुए हैं। तब यह बताइए बालक  
 पैदा होने ही क्यों सुख और दुःख भोगता है।  
 उसने तो इस जन्म में कोई पाप पुण्य किया  
 नहीं। कारण से पूर्व तो कार्य हो नहीं सकता।

पाप पुण्यरूपी कारणसे पहले सुख दुःखरूपी  
कार्य कैसे उत्पन्न होसकता है ।

पाप पुण्य करने से पहले ईश्वर भी जीव पर  
प्रसन्न या अप्रसन्न नहीं होसकते । इससे यही  
सिद्धान्त मानना होगा, कि बालक के पूर्वजन्मा-  
र्जित पुण्य और पाप के अनुसार ईश्वर उस  
के लिए सुख और दुःख का विधान करते हैं ।  
और जो कहो कि पहले कुछ लोगोंने अकस्मात्  
किसी कर्म का अनुभव किया और बाद को  
और लोगोंको भी उसीमें प्रवृत्त करना आरम्भ  
किया । इन्तरह उस कर्मका समाज में खूब  
चलन होगया और कुछ समय बाद लोगोंने  
उसी अपने अभ्यस्त धर्म को धर्म के  
नामसे प्रसिद्ध किया और उसके विपरीत कर्म  
को अधर्म के नामसे । इसका उत्तर यही है  
कि तबका एकसा अभ्यास कैसे हुआ ?  
जगत् के सब लोगों का एक अभ्यास होना  
सम्भव नहीं । जो कहो अकस्मात् होगया तब  
यही विवेच्य है कि अकस्मात् के बीचमें जो  
सुगुहला है उसीको नियम भी कहते हैं । वास्तव

जो पूर्वजन्मार्जित पुण्य और पापकी प्रवृत्ति इस जन्ममें समाज के मतैक्य का कारण है ।

यदि कहो कि जगत् के आस्तिक लोगोंने दूसरोंको प्रतारित करनेके अभिप्राय सेही धर्मा-धर्म प्रभृति मिथ्या विषय कल्पना किये हैं और स्वयं भी उन मिथ्या बातोंका आचरण करते रहे हैं । हमका उत्तर यही है कि ऐसे असामान्य पुरुष कौन हैं जिन्होंने केवल दूसरों को प्रतारित करने के अभिप्राय से मिथ्या विषयकी कल्पना की और स्वयं भी उनका अनुष्ठान करके नाना विध कष्ट उठाये । धर्म और अधर्म सुख दुःखों के हेतु हैं इसमें कोई सन्देह नहीं । मत् या अ-स्तु कर्मका अनुष्ठान करने से उसमें उत्पन्न हुए संस्कार आत्मा में विद्यमान रहते हैं और उपयुक्त स्थान मिलते ही उन संस्कारों के अनु-स्कार आत्मा को योग्य वस्तुओं की प्राप्ति होता है । पूर्वजन्म के कर्मसमूह जो कहो कि पुण्य और पाप आत्मामें संस्काररूपसे कर्म परकाल के साक्षात् विद्यमान रहते हैं सम्बन्ध में हेतु हैं उनसे

१ विफला विश्ववृत्तिर्न दुःखैकफलापि वा ।

दृष्टज्ञान फलावापि विप्रलम्भो, पिने दशः॥ कुमुमाञ्जलिः ॥

उत्पन्न हुए संस्कारों के स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं—इसके उत्तरमें निवेदन है कि फलके प्रसवकालमें कारण ज़रूर विद्यमान रहना चाहिए।  
 1697/697 बीस वर्षहुए परोपकार किया था, इस समय उसका फल किस तरह प्राप्त होगा? कहना होगा फल प्रसव कालमें भी कारण विद्यमान था; परोपकार, कर्म—संस्कार को छोड़कर और किसरूपमें फल प्रसव काल के समय आत्मा में विद्यमान रह सकता है?।

इसके सिवा पूर्व संस्कार न रहने से शरीर आदि आत्माके लिए भोगजनक हो नहीं सकते। संसार में आत्मा भा असंख्य और शरीर भी असंख्य हैं किन्तु विशेष शरीर द्वारा विशेष आत्मा का भोग साधन होता है। पुण्य और पाप कर्म से उत्पन्न हुए संस्कार ही आत्मा और देहविशेष के संयोग के कारण हैं। गर्भमें जीवको पूर्वजन्म और पूर्वजगत् की स्मृति रहती है, किन्तु क्रमशः देहावरण में आवृत्त होकर देहको ही आत्मा समझने लगता है और

१ चिरध्वस्तं फलायासं न कर्मातिशयं विना ।

सम्भोगो निविशेषाणां भूतैः संस्कृतरपि ॥ कुसुमाञ्जलिः ।

इसतरह उसका पूर्वजन्म ज्ञान लुप्त हो जाता है।

यदि कहो कि कोई मनुष्य भूलोक में शरीर छोड़कर बहु दूरस्थित चन्द्रलोक में किसतरह जन्मग्रहण कर सकता है, इसका उत्तर यह है कि आत्मा विश्वव्यापक है संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं जहां उसका व्यापित्व न हो। उसने केवल मोहवश जड़ शरीर को आत्मा समझ लिया है मोहवश वह अनन्त से सान्त होगया है। परन्तु महान् होते हुए भी उसका ज्ञान चर्मचक्षु के आश्रयमें सीमाबद्ध होगया है।

नव्य न्यायकी युक्तियों तार्किकों की युक्तियों का  
 का मर्मार्थ मर्मार्थ यही है कि ईश्वर ही  
 इस वैचित्र्य का कारण है। पूर्वजन्मार्जित पाप और पुण्य कर्म वर्तमान जन्म के सुख दुःख का कारण नहीं हैं—यह बात मानने से विश्वपति के शासन में दोषारोप होता है। ईश्वर किसी कारण से ही तो सुख दुःख का विधान करेगा। वह कारण और कुछ नहीं अदृष्ट वा कर्म संस्कार हैं। जीव पुण्य और पाप कर्म का अनुष्ठान करने से जिन संस्कारों

को प्राप्त करता है वेही अवस्थाभेद से शुभा-  
दृष्टया दुरदृष्ट कहलाते हैं या सामान्यतः अदृष्ट  
ही के नाम से पुकारे जाते हैं । इसको कर्म-  
शरीर भी कहते हैं, क्योंकि आत्मा संस्काररूप  
आवरण में आवृत्त रहता है—इसीको किसी र  
ने कारण शरीर भी कहा है क्योंकि यही इस  
स्थूल देह की उत्पत्तिका कारण है । पूर्वजन्मा-  
र्जित पाप वा पुण्यफल को भोगकर जीव  
फिर कर्मराशि सञ्चय करता है और फिर  
अपने लिए नया अदृष्ट बनाता है । इस जन्म  
में समस्त कर्मों का क्षय नहीं होता ।

इसीतरह कर्मवशतः जन्म और जन्मवशतः  
कर्म होते रहते हैं । यदि कहो कि इनमें, जन्म  
और कर्म में, कौन पहिले हुआ उसका यही

१ नाभुक्तं क्षीयते कर्मकल्पकोटिशतैरपि ।

हन्यते कथयिष्यामि गुह्यं ब्रह्मसनातनम् ॥

यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ।

योनिमन्ये प्रवर्धन्ते शरीरत्वाय देहिनः, ॥

स्थाणु मन्येनुसंयन्ति यथाकर्म यथाभुतम् ।



उत्तर है कि संसार अनादि है उसमें इसप्रकार के प्रश्न का उत्थान ही नहीं होसकता ।

जन्मान्तर के विषय में श्रुतिमें लिखा है जीव विभिन्न श्रुति का प्रमाण कर्मानुसार विभिन्न गति को प्राप्त होता है । श्रुति में एक जगह आता है “ हे गौतम, मृत्यु के बाद आत्मा की कैसी गति प्राप्त होती है यह गुह्य सनातन तत्त्व हम आज तुमसे कहते हैं । कोई आत्मा शरीर धारण करने के लिए स्त्रीयोनि को प्राप्त होते हैं और कोई २ पत्थर तक होजाते हैं’ ।

इन उपरोक्तलिखित युक्तियों से यह प्रतिपन्न हुआ कि पहले भी जन्म था और बाद को भी जन्म होगा और पुण्य पाप कर्म ही परलोक के नियायक हैं । अच्छे कर्म करने से सुखप्राप्ति होती है सही किन्तु जबतक तत्त्वज्ञान का उदय नहीं होता उस समय तक आत्मा जन्म मृत्यु जराव्याधि के चक्र से नहीं छूट सकता । कितनी बार उसने जन्म ग्रहण किया और कितनी बार करेगा इसकी कोई सीमा नहीं ।

## ❀चतुर्थ अध्याय❀

### जीवात्माका मुक्तितत्त्व ।

संसार दुःख और मृत्यु वार २ जन्म लेने का नाम प्रेत्यभाव है । प्रेत्यभावका सीधा अर्थ है 'मरने के बाद जन्मग्रहण करना' । देह के साथ आत्मा के सम्बन्ध को जन्म और विच्छेद को मृत्यु कहते हैं । पूर्वोक्त जन्ममरण-प्रवाहरूपी प्रेत्यभावको आत्मा का संसार कहते हैं । यह संसार अनादि है । जब तक आत्माका मोक्ष न होगा उस समय तक इसका अन्त न होगा । देह के आश्रय के बिना आत्मा अपने कर्मों का फल भोगने में असमर्थ है । इसी लिए वह अपने प्रत्येक अदृष्टानुयायी प्राणि-शरीर का आश्रय लिए रहता है । पण्डित देह की सहायतासे कुछ पूर्वसंचित कर्मोंका क्षय और नूतन कर्मोंका संचय होनेपर आत्मा उस देह का परित्याग करके नूतनदेह ग्रहण करता है । योंही मनुष्य, पशु, वृक्ष इत्यादि प्राणि देहोंकी

उत्पत्ति और विनाश का प्रवाह वेरोक चलता रहता है । किस समय से इस जन्म मरण-प्रवाह का आरम्भ हुआ, यह जानना मनुष्य बुद्धि के लिए असाध्य है ।

सुख दुःख का बुद्धि आत्मा का गुण है ।

उत्पत्तिक्रम

अमात्मिका बुद्धिको ही मोह कहते हैं इस मोह हीसे शारीरिक, मानसिक और वाचिक कर्मका आरम्भ होता है । इस तीनप्रकारके कर्मसे ही धर्माधर्मकी उत्पत्ति होती है । धर्माधर्म से सुख दुःखकी उत्पत्ति होती है । सुख दुःखका संवेदन ( जानना ही संसारका फल है । आत्मा प्रतिजन्म असंख्य कर्मों को सञ्चय करता है । इससे उसको उनसे मिलनेवाले सुख दुःखकाभी अनुभव करना पड़ता है । जन्म, मरण, जरा व्याधि, अनिष्ट संयोग, इष्ट

१ “सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्” इत्यादि श्रुतियों से जाना जाता है कि विधाताने पूर्व १ युगके अनुसार ही सूर्यचन्द्र आदि बनाए । संसारकी अनादित्व निवन्धन-सूचक श्रुतिसे सबसे पूर्वतम कल्प निर्धारित नहीं होता । भगवद्गीतामें भी संसारको अनादि ही कहा है ।  
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ( १५-३ )

इस संसार वृक्षका रूप परिलक्षित नहीं होता । इसकी आदि नहीं, अन्त नहीं और यह किस तरह स्थित है यहभी नहीं जाना जाता ।

विद्योग, अभिलषितविषयों का न पाना इत्यादि कारणों से अनेक प्रकार के दुःख उत्पन्न होते हैं ।

मुक्ति की आवश्यकता  
का उपाय और  
लक्षण

दुःख चैतन्य विशिष्ट पदार्थ

मात्र ही के प्रतिकूल है दुःख

परिहार पूर्वक सुखलाभ करना ही प्राणिमात्र का इष्ट है । किंतु इस संसार में दुःख का भाग अत्यंत अधिक है और सुख का भाग बहुत ही थोड़ा । इष्ट संयोग आदि से उत्पन्न हुआ कुछ थोड़ा बहुत सुख कहीं पाया भी जाना है वह भी परिणाम में दुःख में बदल जाता है । इस नश्वर पाञ्चभौतिक देह के द्वारा बिना दुःख मिले सुखप्राप्तिकी आशा करना नितान्त मूर्खता का काम है । गहरे अंधकार के भीतर

१ बाधा, पीड़ा या तापकी अधिकताको दुःख कहते हैं । जब आत्मा की किसी इच्छा की बाधा उपस्थित होती है तब उस बाधित अवस्थाको दुःख कहते हैं । जब आत्मा की अवस्था बिना किसी रोक टोक के अपना कार्य करती है तब उस अवधि की अवस्थाको सुख कहते हैं ।

आंख, नाक, कान, जीभ, त्वचा और मन ये छः इन्द्रियां हैं । दर्शन, श्रवण, घ्राण, रसन, स्पर्शन और मानस ये छः प्रकार के प्रत्यक्ष हैं ।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पांचो विषय और शरीर ये ही सब दुःखों के सम्पादक हैं । यदि ये सब न होते तब आत्मा को दुःख ही न होता । अतएव चक्षु कर्ण आदि का होना गौण दुःख कहा जाता है ।

पटबीजने के उजाले की तरह इस अनादि संसारमें अशेष दुःखराशि के बीच जो सुख-कणिका है वह सुख नहीं मानी जा सकती । इस संसारमें आत्मा को इच्छाका सदा ही प्रतिबन्ध हुआ करता है । इसीलिए कुछ दार्शनिकों ने सुख और दुःख दोनों ही को दुःख नाम देकर संसार को तापक और जीव को तप्य कहा है । जीव और संसार में तप्य तापक सम्बन्ध है । इस तापक संसार से परित्राण पाना जीवमात्र का परम पुरुषार्थ है । किन्तु जीव जबतक पुण्य और पाप नाम के कर्मों की राशि सञ्चय करने में लगा हुआ है तबतक किसी भी तरह से उसकी मुक्ति नहीं हो सकती । जबतक कि शुभाशुभ कर्मका क्षय न होगा तबतक सौ २ देह धारण करने पर भी जीवकी मुक्ति नहीं होगी । लोहे या सोने की वेड़ियों से जीव जैसे बँधा रहता है, शुभ अशुभ कर्मों से भी वह वैसे ही बँध रहता है । सौ २ कष्ट सहने पर भी—सर्वदा कर्म संपादन करते रहने पर भी जबतक ज्ञानोदय न होगा तबतक जीव मुक्त नहीं हो सकता । सत्कर्मों का अनुष्ठान करके पापों के विनष्ट और चित्त

कि शुद्ध होने पर प्राज्ञ लोग पदार्थ-समूह के यथार्थ तत्त्वको जानकर ज्ञानलाभ करने में समर्थ होते हैं ।

इस जन्म और पूर्वजन्म के पुण्यबल से द्रव्य गुण आदि दर्शन शास्त्रोक्त पदार्थों के परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य का यथार्थ बोध होता है । इसे ही तत्त्वज्ञान कहने हैं । तत्त्वज्ञान का उदय होनेपर मनन और निदिध्यासन से आत्मा का साक्षात्कार होता है । आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होनेपर देह आदि से आत्मा अभिन्न है इसतरह का मोह दूर होजाता है । मोह दूर होने पर इच्छा और द्वेष का नाश होजाता है । तदनन्तर धर्माधर्मात्मक प्रवृत्ति का उच्छेद होकर जन्म का उच्छेद और तापत्रय की अत्यन्त निवृत्ति होती है ऐसे तत्त्वज्ञान के द्वारा दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष और मिथ्या ज्ञान का उत्तरोत्तर नाश होनेपर अपवर्ग लाभ या मोक्षप्राप्ति होती है<sup>१</sup> ।

दुःखकारक जन्म से विल्कुल छूटजाना और

१ राग द्वेष और मोह ।

२ दुःख जन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानां उत्तरातरापाय तदनन्तरापाय अपवर्ग इति गोतमसूत्रम् ।

बाह्यवस्तु, देह और इन्द्रियादि के साथ आत्माका जो अनिर्वचनीय बन्धन है, उसका उच्छेद होजानाही मुक्ति कहाता है ।

मुक्तावस्था में दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति होजाती है । आत्मा तब समझ जाता है कि वह देह नहीं और देहके साथ उसका कुछ सम्बन्ध भी नहीं । इस देह और इन्द्रियादि विहीन आत्माको सुख दुःख स्पर्श तक नहीं करसकते ।

संसार और मुक्ति-जो ऐसे मुक्तिरुदके प्रार्थी नहीं है

पथमें भेद और दैहिक सुखके अभिलाषी

है वे पुण्य कर्मोंका अनुष्ठान करें क्योंकि ऐसा करने से वे जन्म जन्मान्तर पाकर अभीष्ट सुख लाभमें समर्थ होनकेगे । संसार और मुक्ति दो-पथ हैं- जिसपर इच्छा हो चलो । चिरशान्ति परम पवित्रता और दुःखका अत्यन्त ध्वंस चाहते हो तो तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्ष पदवीके प्रार्थी बनो बारंबार जन्म ग्रहण करके कभी सुख कभी दुःख कभी मिलन कभी विग्रह आदि-वाहते हो तो संसार मार्गका अवलम्बन करो । जन्म, मृत्यु, जरा और वयधि इसमार्ग के अ-

भावी फल हैं। दोनों मार्गों में कृतकार्य ही धर्मका प्रयोजन है। पुण्य-कार्य के सुष्ठान द्वारा बुद्धिकी निर्मलता और तत्त्वज्ञानका उदय होता है। तत्त्व ज्ञानसे मुक्तिलाभ होता है यदि चाहते हो कि बार-बार जन्म लें और सुख-भोगें तब धर्मोंपाज न करो। कर्मका परिणाम ही सुख है।

### ❀ उपसंहार ❀

यदि कोई मनमें सोचे कि जगत् का कर्त्ता या अत्मा कोई नहीं, जितने दिन मैं इस पृथ्वी पर अन्हार विहार, खेल कूद करूँ, उतने ही दिन मेरे हैं, उसके बाद तो मेरा देह पञ्चभूतों में मिल जायगा; “मैं” इस नाम का जगत् में कुछ भी न रहेगा। मैं जीवोंपर दया करूँ अथवा उनकी हिंसा करूँ सच बोल् या झूठ बोल् इन्द्रिय संयम करूँ अथवा जो मनमें आए विना रोके टोके करूँ, दान करूँ अथवा “ऋणकृत्वा” धी पियू, अपने किए कर्म का मैं उत्तर दाता नहीं। मेरे काप का दण्ड देने वाला या पुरस्कार देने वाला कोई नहीं है—यदि यह बात सच हो—तो—ऐसा जीवन कैसा नीरस हो जायगा ! निराशा



## DUE DATE

अर हृदय को कैसे ढकलोगी ! वस्तुतः न  
का जीवन भीषण यंत्रणामय होना है ।  
तार्किक पहले तो ईश्वर और आत्मा के वि  
में सन्देह करते रहे, परन्तु अन्तको मरते समय  
परलोक का भयङ्कर भाव स्मरण करके पूर्वसञ्चि  
युक्तिराशिका उन्होंने विसर्जन करदिया और  
ईश्वर को लक्ष्य करके पुनः पुनः कातरता प्रकाश  
करने लगे ।

यदि इस जगत् में आत्मा या ईश्वर का  
अस्तित्व कोई अज्ञात कर न करे सभी पाप पुण्य  
को कल्पना सम्भूत मिथ्या समझे तो वेद, कुरान,  
बाइबिल आदि सभी धर्मशास्त्रोंकी उपयोगि-  
ता बिलुप्त होजाय । शास्त्र के अनु-  
शासन अथवा विधि बंधन-ों झूठ जानकर  
कोई भी उनमें श्रद्धा न करे । फल यह हो कि  
बनुष्य समाज उच्छुद्ध हो जाय । इसमें पृथ्वी  
अस्तित्व अत्याचरों से पीड़ित होकर अधोगति  
की निम्नतम सीमा में पहुँच जाय । ऐसा विचार  
करते ही कि ईश्वर अथवा जीवात्मा नहीं हैं  
हृदय विषम वैराग्य समुद्र में डूबजाता है ।

इति.

